वर्ष ३४ अंक ६

जून १९५३

वैशाख २०१०

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक
महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।) रु. विदेशके ६॥) रु.

विषयानुक्रमणिका

पवित्र वेदादि ग्रन्थोंका

सुन्दर प्रकाशन

अब भारत देश स्वतंत्र हुआ है। इसलिये इस भारतको अपनी संस्कृतिके साथ उठना चाहिये । भारतीय संस्कृतिके ये ग्रन्थ हैं- " **चार वेद, ग्यारह उपनिषद्, रामायण, महा भारत, गीता, तथा मनु आदि स्मृति** । " इन ग्रंथोंमें भारतीय संस्कृति समाई है। इसलिये इन ग्रंथोंको **शुद्ध, सुन्दर, आकर्षक छापकर सस्तेसे सस्ते मूल्यमें देनेका प्रबंध करना चाहिये** । इन ग्रंथोंके विषयमें हमारे ग्रंथों और आचार्योंने कहा है—

१ **भगवान् मनु महाराज**- (वेदोऽखिलो धर्ममूलं)= वेद धर्मका मूल है ।

२ **श्री शंकराचार्य**- (सर्वज्ञानमयो वेदः)= वेद सब ज्ञानमय है ।

३ **श्री दयानन्द सरस्वती**- ' वेदोंका पढना पढाना आर्योंका परम धर्म है ।

इस तरह सब श्रेष्ठ पुरुष अपने पवित्र ग्रंथोंकी प्रशंसा गाते हैं । विदेशी विद्वान भी इन ग्रंथोंकी प्रशंसा करते हैं; देखिये-

१ **श्री बार्थ**-(Religions of India में) लिखते हैं कि " वेदोंका महत्त्व विशेष ही है । ' ' महाभारत होमरसे कई गुणा श्रेष्ठ है । '

२ **श्रीमती आनि बिझांट**- वेद श्रेष्ठ धर्मके ग्रन्थ हैं । भारत भूमि धर्मोंकी माता है । उपनिषदोंसे अधिक श्रेष्ठ ज्ञान जगत्में नहीं है ।

३ **सर जेम्स केर्ड**- हिंदुओंकी स्वराज्य शासन पद्धति बहुत अच्छी थी ।

४ **लार्ड डफरिन**- पश्चिमने भारतसे बहुत सीखनेका है।

५ **डा. गोल्डस्टकर**- (उपनिषदोंका) ज्ञान सबसे श्रेष्ठ ज्ञान है

६ **श्री ग्रीफिथ**- वेद मन्त्रोंमें मानवोंकी परम उन्नतिका आदर्श है ।

७ **प्रो हीरेन्**- वेदका ज्ञान सबसे प्राचीन और सबसे श्रेष्ठ है ।

८ **मिसेस मनिंग**- भगवद्गीता श्रेष्ठसे श्रेष्ठ ग्रंथ है ।

९ **प्रो. मोक्षमुल्लर**- वेद सबसे प्राचीन और सबसे श्रेष्ठ ग्रंथ हैं । भारत पृथ्वीपर स्वर्ग है । वेद जैसे ग्रंथ जगत्में दूसरे नहीं हैं । वेद ही ज्ञानका मूल स्रोत है ।

१० **सर थामस मन्रो**- भारतकी सभ्यता उच्च है ।

११ **झेनादे रागोझिन**- वेद सबसे श्रेष्ठ ग्रंथ है ।

१२ **शोपेन होअर**- उपनिषद जैसे ऊंचे विचारके दूसरे ग्रंथ नहीं है। इन ग्रंथोंने मुझे जीवनमें आनन्द दिया है, मरनेके समय भी येही मुझे शांति देंगे ।

इस तरह सैंकडों युरोप और अमेरिकाके विद्वानोंने वेदादि ग्रंथोंकी प्रशंसा गाई है । पर दुर्दैव ऐसा है कि ये ग्रंथ आज शुद्ध, सुन्दर, आकर्षण रीतिसे छपे नहीं मिलते और जो मिलते हैं वे सस्ते तो नहीं है। इसलिये हमें यत्न ऐसा करना चाहिये कि जिससे ये ग्रंथ उत्तमसे उत्तम मुद्रित होकर मिले और घर घरमें इनका पाठ हो ।

इनके एक भाषामें प्रकाशनका व्यय यह है-

धर्मग्रंथ प्रकाशन

	छपाईका व्यय
१- चार वेद (मूल) पृष्ठसंख्या १५०० प्रतियाँ ५०००	३५०००) रु.
२- चार वेद (संहिता-पद-अन्वय समेत) चार जिल्दोंमे पृ. ३६०० प्र. ३०००	७५०००) ,,
३- चार वेदोंका मूल और अन्वय समेत भाषानुवाद चार जिल्दोंमें पृ. ३६०० प्र. ३०००	७५०००) ,,
४- ग्यारह उपनिषद भाषानुवाद पृ. १००० प्र. ३०००	२५०००) ,,
५- महाभारत भाषानुवाद १० जिल्दोंमें पृ.१०००० प्र. २०००	१५००००) ,,
६- रामायण १० जिल्दोंमें पृ. २५०० प्र. २०००	५००००) ,,
७- गीता पुरुषार्थ-बोधिनी पृ. १००० प्र. ५०००	३००००) ,,
८- चारों वेदोंके कापर ब्लाक्स १२००	५००००) ,,
	कुल ४९००००) ,,

१ चार वेद मूल मात्र इसलिये छापने चाहिये कि वे घर घरमें सन्मानके स्थानपर रहें।

२ चार वेद पदपाठ और अन्वयके साथ इसलिये छापने चाहिये कि जो थोडासा संस्कृत जानते हैं, वे इनका नित्य पाठ करें, मनन करें और दिव्य ज्ञान प्राप्त करें।

३ हिंदी-गुजराती-मराठी भाषामें, तथा संभव हुआ तो अंग्रेजीमें भी ये ग्रंथ छापकर इनका प्रचार करना चाहिये। जिससे इनका ज्ञान सर्वत्र फैले और जानता इस ज्ञानसे ज्ञानी और श्रेष्ठ बने।

ऊपर जो व्यय बताया है वह पृष्ठोंकी न्यूनाधिकतासे तथा बाजारके भावकी न्यूनाधिकताके अनुसार थोडा न्यून वा अधिक भी हो सकता है। इसी तरह इसमें भाषानुवादका जो व्यय लिखा है वह एक भाषाका है। तीनों भाषाओंमें यह प्रकाशन करनेके लिये इसके तीन गुणा व्यय लगेगा।

कार्य शुरू है।

इस समयतक हिंदीमें (१) अथर्ववेद संपूर्ण, (२) ऋग्वेदका ८ वां भाग, (३) यजुर्वेदके ६ अध्याय, (४) श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी-टीका हिंदी-मराठी-गुजराती-अंग्रेजीमें छप चुकी है। कानडीमें भी ३ अध्याय छपे हैं। (५) उपनिषद् ७ छपे हैं। (६) महाभारत और रामायण छप रहे हैं। इतना कार्य हुआ है। धनाभावसे शेष कार्य रुका है।

धन राशीका ट्रस्ट

हिंदी-गुजराती-मराठीमें इन ग्रंथोंका प्रकाशन सुन्दर शुद्ध आकर्षक और सस्ता करनेके लिये पूर्वोक्त हिसाबसे १२ लाख रु. का निधि चाहिये। यह निधि कोई एक धनी देवे अथवा अनेक धनी मिलकर देवें। यह धन राशि एक रजिष्टर्ड ट्रस्टके पास रहे और वे ट्रस्टी इस धनका व्यय इन ग्रंथोंके प्रकाशनके लिये करें।

इस व्यवहारमें लाभ

इस व्यवहारमें हानि नहीं है। धनी धर्मप्रचारके लिये दान देवें। कोई कर्जाके रूपमें भी देवे। उनका कर्जा मुद्रण होनेके बाद वापस किया जा सकता है। इसमें हानि नहीं है, यह हमारा गत ३५ वर्षोंका अनुभव है।

इस तरहके ट्रस्टके धनकी राशीसे धर्म प्रचारका कार्य भी अखण्ड रीतिसे चल सकता है। और इसमें हानी तो कभी होनेवाली नहीं है।

आशा है कि धनी लोग अपनी शक्तिके अनुसार हमारी सहायता करेंगे। क्योंकि यह कार्य बडे धन-राशीसे होनेवाला है इसलिये अनेकोंकी सहकारितासे ही यह होनेवाला है।

धन देनेवाले दान देवें अथवा जो कर्जाके रूपमें देना चाहते हैं वे ५ वर्षोंके लिये कर्जा भी देवें। कर्जा योग्य समयमें वापस किया जायगा, जैसा कि इस समयतक किया गया है।

हमारे पास पंडित हैं, प्रेस है, तथा वेदादिक मुद्रणका सब साधन तैयार है। केवल धनराशी ही नहीं है। धनराशी जिस प्रमाणमें प्राप्त होगी, उस प्रमाणमें हम यह वेदादि ग्रंथोंका मुद्रण कर सकेंगे।

हमारी इच्छा शीघ्रसे शीघ्र मुद्रण करनेकी है। आशा है धर्म प्रेमी लोग इस कार्यकी सहायता करेंगे। और इस कार्यको सिद्ध करनेका यश प्राप्त करेंगे।

निवेदन कर्ता

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

अध्यक्ष-स्वाध्यायमण्डल, आनंदाश्रम, पारडी (जि. सूरत)

मंगवाते समय ' वैदिक धर्म ' का हवाला अवश्य दीजिए।

वर्ष ३४ **वैदिक धर्म** अंक ६

क्रमांक ५४

▲ वैशाख, विक्रम संवत् २०१०, जून १९५३ ▲

शत्रुके मुख नीचे हों

इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः ।
दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे ॥

ऋ. ७।१८।१५

(एते दुर्मित्रासः तृत्सवः) ये शत्रुवत् आचरण करनेवाले सदा प्यासे दुष्ट लोग (प्रकलवित्) विशेष युद्ध कलाको जाननेवाले (इन्द्रेण वेविषाणाः सृष्टाः) इन्द्रके द्वारा अन्दर घुसकर स्वस्थानसे हटाये गये सब शत्रु (आपः न) जलप्रवाह जैसे नीचेकी गतिसे जाते हैं, वैसे ये शत्रु (नीचीः अधवन्त) नीचे मुख करके भागने लगे । (मिमानाः) पराजित हो जानेपर (विश्वानि भोजना) अपने सब भोजनादि भोगके पदार्थ (सुदासे जहुः) उत्तम भक्त विजयी वीरके लिये छोडकर वे सब दूर भाग गये ।

सदा भोगोंकी प्यास अपने मनके अन्दर रखना योग्य नहीं है । ऐसे प्यासे लोग अनर्थ करते हैं । इनको समाजसे दूर करना चाहिये । जो ऐसे भोगोंके लिये प्यासे होंगे उनको लज्जासे नतमस्तक रहनेकी अवस्थामें पहुंचाना चाहिये । यदि ये अपनी शत्रुता कम न करेंगे तो इनको दूर भगाना चाहिये और उनके स्थान सज्जनोंको देने चाहिये । उनके भोग-साधन सज्जनोंको देने चाहिये । वे दुष्कर्म न करें और भले बनकर सुखसे रहें ।

हमारे जीवनमें संस्कृतका महत्व

लेखक— श्री. माननीय के. एम. मुन्शी

' जिस प्रकार भौगोलिक दृष्टिसे भारत प्रत्येक बातके लिए नगाधिराज हिमालयका कृतज्ञ है उसी प्रकार सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे संस्कृत साहित्यका । भविष्यके बारेमें सोचते समय संस्कृत भाषाको भूलना घातक होगा । '

जिन जिन शक्तियोंके प्रभावमें आकर मनुष्य एक सामाजिक और सांस्कृतिक प्राणी कहलाया है, उनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय शक्ति ' शब्द ' की है। ' शब्द ब्रह्म ' जीवनकी एक सर्वव्याप्त शक्ति है। उदाहरण स्वरूप भौगोलिक दृष्टिसे भारत हर बातके लिए नगपति हिमालयका कृतज्ञ है और सामाजिक नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे संस्कृत साहित्यका। प्रागैतिहासिक कालमें आर्योंने यहां आर्यभाषाका प्रचार-प्रसार किया। समय और दशाके अनुसार उनकी इस भाषाने एक निश्चित रूप-रेखा ग्रहण कर ली। भारतमें आर्योंने प्राथमिक प्राकृत भाषाका प्रचार किया। बादमें उनकी इसी भाषाने शास्त्रीय संस्कृत भाषाका रूप ग्रहण कर लिया।

आर्य अपने आप लड़ाई करनेके अलावा अनार्य दस्युओंसे भी लड़ा करते थे। फिर भी भाषाके माध्यमसे दोनों एक थे। जब शब्द छन्दबद्ध होकर उच्चारित किये जाते थे तो उन्हें मन्त्रके नामसे पुकारा जाता। जो लोग मन्त्रोंकी रचना कर सकते थे, उन्हें ऋषदेव बोला जाता और जन साधारणमें वे पूजनीय समझे जाते थे।

सप्त सिन्धुमें आर्योंके राज्य स्थापनासे लेकर महाभारत कालतकमें शास्त्रीय संस्कृत भाषा ही आम जनताकी भाषा हो चुकी थी। महाभारत कालसे लेकर मौर्य साम्राज्यकी स्थापनातक संस्कृत न केवल सिन्धु और गंगाके किनारेपरके वाशिंदोंकी ही भाषा थी, बल्कि देशके साहित्यकारों, दार्शनिकों और राजनीतिज्ञोंने भी इसी भाषाके माध्यमसे अपनी विचारधाराएं प्रकट करनी शुरू कर दीं। गुप्त वंशके स्वर्णकालमें संस्कृत भाषा देशवासियोंकी सामूहिक चेतनाका स्रोत बन गयी। इसी कालको संस्कृत साहित्यका चरम आकर्षककाल माना जाता है। महाकवि कालिदास इसी समय आविर्भूत हुए। इसी कालमें महाभारतका अन्तिम संस्करण आया, जिसमें सब समेत एक लाख श्लोक थे। गुप्त शासकोंके समयमें संस्कृत भाषाका बहुमुखी विकास हुआ और समाज संस्कारको लेकर संस्कृतमें जो पुस्तकें लिखी गयी, उन्हींको आईन कानून मानकर सनातन धर्मकी स्थापना हुई।

उत्तर भारतमें संस्कृत ज्ञान विज्ञान, समाज और धर्मकी भाषा थी। दक्षिण भारतको संस्कृत साहित्यके निर्माणके दिशामें प्रेरणा मिली, कहना नहीं होगा कि इस अवधिमें संस्कृत भाषाने, देशमें विद्याकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वतीका रूप ग्रहण कर लिया। ५५० इस्वीमें गुप्त साम्राज्यका नाश हो गया। तबसे लेकर ९५७ इस्वीतक उत्तर भारतपर कन्नौजके राजाओंका प्रभाव रहा। इन राजाओंका सम्पर्क संस्कृत भाषाभाषी क्षेत्रके बाहर असंस्कृत लोगोंसे अधिक था। परिणामस्वरूप वर्णाश्रम धर्मकी महत्ता जमी रही। ब्राह्मण क्षत्रीय और वैश्य सामाजिक सुरक्षा की जिस परम्परावद्ध गांठमें बंधे हुए थे, वह टूट गयी और सबके सब आपसमें बिखर गये। संस्कृत उच्च शिक्षाकी भाषा बन गयी और एक तरहसे ब्राह्मणोंका उसपर आधिपत्य रहने लगा तथा अपभ्रंश भाषाओंका क्रमशः प्रचार होने लगा। राजशेखरकी ' काव्य मीमांसा ' से इस बातका पता चलता है कि उस समयमें देशके अधिकांश हिस्सोंमें संस्कृत बोली जाती थी। गुजरातमें लोग संस्कृत भाषासे नफरत करते थे। मारवाड़, राजपूताना और सौराष्ट्रमें संस्कृत अपभ्रंशमें मिला जुलाकर बोली जाती थी। मध्य देशमें शिक्षितोंकी भाषा संस्कृत थी। नतीजा यह हुआ कि क्रम-क्रमसे संस्कृत भाषा शिक्षित और विद्वान लोगोंकी भाषा बन गयी।

अलाउद्दीन खिलजीके शासनकालसे संस्कृत भाषाको अनेक कठिनाइयोंसे गुजरना पड़ा। उसने उत्तर भारतके अनेक विश्वविद्यालयोंको नष्टभ्रष्टकर वहां संस्कृत भाषाको नष्ट करनेकी चेष्टा की गयी। जिन लोगोंके लिए संस्कृत भाषा जीवनकी सांस थी, वे लोग मुसलमानोंका राज्य छोड़ छोड़कर देशके दूर दूर अन्तर्वर्ती क्षेत्रोंमें भाग गये। वहाँ उन्होंने अपनी अपनी झोपड़ियोंमें ही पाठशालायें कायम की और संस्कृत शिक्षाके प्रचारको जीवित रखा। इन लोगोंने संस्कृत विद्याको जीवित रखनेका एक और प्रयास किया। इससे जनतामें एक प्रकारका पुनर्जागरण आया। महाभारत 'रामायण' भागवत और गीतगोविंद आदिकी श्रुति मधुर कथाओंके जरिये संस्कृतका प्रचार किया जाने लगा। हिंदू राज्योंमें संस्कृतके विद्वानोंका रहना अनिवार्य समझा जाने लगा। यद्यपि आमजनताका संस्कृतसे सीधा सम्पर्क नहीं रह गया, तथापि प्रत्येक गांवमें संस्कृतकी शिक्षा दीक्षाके लिए एक न एक पाठशाला अवश्य हुआ करती थी। उत्तर भारतमें 'व्रजभाषा' के जरिये संस्कृतको प्रभावित किया।

१९ वीं शताब्दीमें संस्कृत साहित्यका नया अध्याय शुरू हुआ। पाठशालाओंमें शिक्षा-दीक्षा पाकर बहुतसे ब्राह्मण पुरोहित, ज्योतिषी पण्डित और पौराणिकोंकी हैसियतसे किसी न किसी रूपमें संस्कृत भाषाका प्रचार करने लगे। इनमें सभी तरहके विद्वान पाये जाने लगे कुछ लोग तो वेद और शास्त्रोंका पूरा-पूरा ज्ञान रखते थे और कुछ लोग ऐसे भी हुए, जो पर्व त्यौहार और शादी विवाहके अवसरपर अच्छी तरह मन्त्रोच्चारण भी नहीं कर सकते थे।

मुगल साम्राज्यके नष्ट हो जानेके बाद राजनीतिक दासताका प्रश्न बहुत हदतक आपसे आप हल हो गया और लोगोंमें सांस्कृतिक एकताकी भावना जागरूक हुई। ईस्ट इंडिया कम्पनीके पढ़े-लिखे अफसर संस्कृत साहित्यकी बहुमुखी सम्पन्नतासे पहले ही प्रभावित हो चुके थे। इसलिए उन्होंने ग्राम्य पाठशालाओंकी सुव्यवस्थाकी कोशिश की। उन्होंने संस्कृतमें लिखी पाण्डुलिपियोंका संग्रह किया और उन्हें ठीक ठिकानेसे सम्पादितकर प्रकाशित भी कराया १९ वीं शताब्दीमें जब पुनः देशमें विश्वविद्यालयोंकी स्थापना हुई, तो उन्होंने वहां संस्कृतकी पढ़ाईकी भी समुचित व्यवस्था की।

विगत शताब्दीमें भारतकी एकता केवल दो विषयोंपर ही आधारित रही। उनमें एक तो ब्रिटेनका निरंकुश शासनका भय था और दूसरा सांस्कृतिक चेतना। आज ब्रिटेनका निरंकुश शासन समाप्त हो गया। उन दो प्रकारके लोगोंमें देशका बटवारा हो गया जिनको दो विपरीत सूत्रोंसे प्रेरणाएं मिलती रही हैं। भारतीयोंकी इस प्रेरणाका सूत्र संस्कृत साहित्य रहा। विश्वविद्यालयों और स्कूलोंमें संस्कृतकी शिक्षा-दीक्षाके अलावा सारे देशमें लगभग १० हजार पाठशालाएं हैं। देशमें २५ हजारसे अधिक व्यक्ति संस्कृतमें धाराप्रवाह बोल सकते हैं। जन्म विवाह और मृत्युके अवसरपर लगभग १० करोड़ भारतीय संस्कृत साहित्यके जरिये जीवनको शुद्ध किया करते हैं। रामायण, भागवत और महाभारतकी कथाएं भारतीय जनताके जीवनसे सम्बद्धित हो गयी है। भारतका सांस्कृतिक विकास केवल संस्कृत भाषाके जरिये ही संभव है। अतीतमें जिन महापुरुषोंके जीवनसे हमने शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की है, वे सबके सब व्यक्ति संस्कृत साहित्यके जरिये अपने आपको सुगठित किये हुए थे। भारत, दक्षिण-पूर्व एशिया, चीन और जापान संस्कृत तथा पाली भाषाओं के माध्यमसे ही सांस्कृतिक एकतामें बंधा हुआ है। भारतकी विभिन्न भाषाओंपर संस्कृत साहित्यकी अमिट छाप है। पेनसिलवानियां विश्वविद्यालयमें दक्षिण-पूर्व एशिया विषयोंके अध्यक्ष प्रोफेसर नारमन ब्राउनने विगत वर्ष यह राय जाहिर की थी कि अध्ययनके ख्यालसे दक्षिण पूर्व एशियाको जानेवाले विद्यार्थियोंका कहना है कि संस्कृत भाषाकी जानकारी नहीं होनेके कारण वे लोग वहांकी वास्तविक भावनाओंसे परिचित नहीं हो पाते। पाकिस्तानकी राजभाषा उर्दूका उद्गम यद्यपि फारसी और अरबीसे बतलाया जाता है, तथापि वास्तविकता यह है कि उसपर भारतीय और आर्य भाषाओंकी गहरी छाप है। अफगानिस्तानकी राजभाषा 'पश्तो' का भी यही हाल है। फारसी भाषाका भी संस्कृतसे घनिष्ठ सम्पर्क है। भारतीय एकताकी ग्रन्थिमें लेटिन और (ग्रीक) यूनानी भाषाएं भी पिरोयी हुई है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अतीतमें संस्कृत भाषाने हमारी एकता संस्कृति और हमारे सामाजिक विकासको ठोस आधार दिया है, इसलिए यह उचित ही है कि अपने भविष्यके बारेमें सोचते समय हम इस संस्कृत भाषाको नहीं भूलें। आज भी देशमें बड़े बड़े अधिकारी-

योंको संस्कृतभाषाकी पूरी जानकारी है, लेकिन संस्कृतको अतीतकी गौरवपूर्ण स्थितिमें कायम रखनेसे वे आज असमर्थ हैं।

इसके अलावा हमारे विश्वविद्यालयों और बडे बडे शैक्षिक प्रतिष्ठानोंने पाश्चात्य शिक्षाप्रणालीको ही विशेष रूपसे अपनाया है।

आजादीके बाद जब संस्कृतमयी हिंदीको स्वीकृत किया गया तो लोगोंको यह विश्वास होने लगा था कि संस्कृतकी शिक्षाकी ओर सरकारका विशेष रूपसे ध्यान जायगा। उत्तरप्रदेशकी सरकारने इस दिशामें उचित कदम उठाया भी है। दूसरे दूसरे राज्य अभीतक इस बारेमें एकदम चुप हैं। हमारे जीवनमें संस्कृतका जो बुनियादी महत्व है, सरकार चलानेवाले वर्गने अबतक उस ओर ध्यान नहीं दिया। जो लोग स्थितिकी वास्तविकताको भलीभांति महसूस कर सकते हैं, वे यह अवश्य सोचते होंगे कि यदि भारत अपनी आत्मा खो बैठे, तो आजादीका कोई अर्थ नहीं होगा। यदि साधनकी मूल वस्तुका हम परित्याग कर दें, तो हमारा भविष्य एकदम अन्धकारपूर्ण हो जायगा।

संस्कृत विद्याके अध्ययनकी प्रणालीको ठोस बनानेका एकमात्र उपाय यही है कि हम सभी उपलब्ध साधनोंसे काम ले लेनेके लिए सारी शक्ति लगा दें।

संस्कृतके विषयमें भारतीय विद्वानोंके विचार

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके सरसङ्घचालक श्रीमान **माधव सदाशिव गोलवलकर**, एम्. एस एस. एल् एल्. बी. महोदयकी सम्मति एवं शुभकामना–

संस्कृत भाषाका प्रसार करनेकी आपकी इच्छा तथा प्रयत्न अत्यन्त योग्य है। भारतकी एकताको जागृत करनेमें यह अभ्यास अत्यन्त प्रभावी होगा। अपना सब तत्त्वज्ञान तथा संस्कृतिकी धाराका प्रवाह संस्कृत वाणीमें ही प्रगट हुआ है। अतः इस गीर्वाण भाषासे जनसाधारणका अधिक परिचय भारतकी स्वाभिमानवृत्तिको जगाकर गौरवान्वित करनेमें समर्थ होगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं। मैं परमात्मासे प्रार्थना करता हूँ कि आपको सफलता प्राप्त हो।

* *

भारतीय समाजवादी दलके आचार्य और नेता माननीय बाबू **जयप्रकाश नारायण** अपने प्राचीन वाङ्मयके अध्ययनकी आवश्यकताके सम्बन्धमें लिखते हैं—

साधारणतः भारतीय हिन्दु अपने प्राचीन वाङ्मयसे सर्वथा अपरिचित होता है। जो अपढ है, उनका तो कहना ही क्या! अधिकसे अधिक उनके लिये इतना ही सम्भव है कि गावोंके कथावाचकोंसे उस वाङ्मयका थोडासा परिचय प्राप्त करे। लेकिन कथावाचक प्रायः रामायण, श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणोंसे आगे नहीं जाते। जो पढे हिन्दु हैं वे अधिकतर अंग्रेजी वाङ्मयसे परिचित होते हैं। इसमें भारतीय शिक्षा पद्धतिका नो दोष है ही, साथ साथ संस्कृतमें प्रवेश होनेकी कठिनाईके कारण जो अपने दर्शनादि और वेदादिको देखना भी चाहते हैं वे उन्हें देखनेके सौभाग्यसे वंचित रह जाते हैं। अंग्रेजीके द्वारा इनका मनन कर सकते हैं, लेकिन अंग्रेजीकी इतनी योग्यता बहुत कम लोगोंमें होती है। इस परिस्थितिका नतीजा यह होता है कि हममेंसे अधिकांश अपने प्राचीन वाङ्मयको एक अपूर्व, अग्राह्य, अगम्य वस्तु समझ लेते हैं, जिससे हमारा मानसिक स्वातन्त्र्य और हमारा स्वाभाविक विकास दब जाता है। हमारे वेद हमारे दर्शन हिमालय शृङ्खला बन जाते हैं, जिनकी चोटीपर हमारा पहुँचना असाध्य मान लिया जाता है। इस मानसिक और बौद्धिक संकोचको मिटाये विना हममें न विचारस्वातन्त्र्य पैदा हो सकता है और न मानसिक साहस। यदि प्राचीन भित्तियोंके आधारपर हमें सभ्यताकी नई मंजिलें खडी करनी हैं, तो उन भित्तियोंको दृढ करना और उनका महत्त्व समझना आवश्यक होगा।

भारतीय संस्कृतिका स्वरूप

[लेखाङ्क ३२]

लेखक— पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

● ● ● ● ● ● ● ●

अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासन

शासनशक्तिका आधार अध्यात्म

वेदकालीन ऋषि इस बातसे अवगत थे कि 'शासन शक्तिकी अनुकूलता हुए बिना मनुष्यकी सच्ची एवं स्थायी उन्नति नहीं हो सकती। अतएव अत्यन्त शुद्ध अध्यात्मके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते समय भी ईश्वरका वर्णन एक शासकके रूपमें किया है। 'ईशावास्यं इदं सर्वं' (ईश. उ. १ व वा य ४०।१) यह वास्तविक अध्यात्मवर्णनका वचन है। किन्तु यह भी शासकका एक महत्त्वपूर्ण गुण ही बताता है।

'जो ईशन शक्तिसे युक्त है वही इन सबपर शासन करता है।' वही यहाँ रहता है, घेरता है, व्यापता है तथा शासन करता है। यह शब्द-योजना ध्यानपूर्वक देखने योग्य है। बहुतोंकी यह समझ है कि ऋषिगण केवल अध्यात्ममें फंसे रहते थे, उनका ध्यान राज्यशासनकी ओर बिल्कुल नहीं था या वे इस ओरसे उदासीन रहते थे। किन्तु वास्तविकता बिल्कुल उलटी है।

ऋषिगण ईश्वरका गुणवर्णन करते समय भी यही वर्णन करते हैं कि वह इस विश्वका शासक है। यही नहीं अपितु वे जब ईश्वरका गुणवर्णन करते हैं तब बिल्कुल तोल तोल कर उसका वर्णन करते हैं। अमुक गुण ईश्वरके हैं तथा अमुक नहीं हैं, इस बातको ऋषियोंने सर्वथा स्पष्ट करके कह दिया है। जैसा चाहे वैसा बर्ताव करनेवाला और स्वच्छन्द ईश्वर उन्हें पसंद नहीं है। उन्हें तो न्यायशील, दयालु, और निःस्पृह ईश्वरही शासकरूपमें पसन्द है। 'ईश्वरकी मर्जी' जैसे वाक्योंका उच्चारण करनेके लिये वे तैयार नहीं हैं। जो ईश्वर कर्मानुसार फल देता है उसीको वे माननेके लिये तत्पर हैं।

अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासन

अध्यात्मके सभी सिद्धान्त इसी कारण राज्यशासनके सिद्धान्त बनते हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि ईश्वर राजाओंका राजा है। राजाओंका राजा किस प्रकारका होना चाहिये, इसका विचार ऋषियोंने किया और तदनुसार ही उसका वर्णन किया। इस वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजाओंका राजा किस प्रकारका होना चाहिये। इसे देखकर हमें यह कल्पना आ सकती है कि हमारा राजा किस प्रकारका हो।

इस दृष्टिसे राजा अथवा शासकके निर्दोष रहनेके लिये स्मृतिकारोंने जिन नियमोंका निर्धारण किया है उनपर उपयोगिताकी दृष्टिसे हमें आज भी विचार करना चाहिये।

देवोंका अध्यक्ष

देवोंके राजा इन्द्र और उपेन्द्र जब एक नियत योग्यता प्राप्त कर लेते थे अथवा एक नियत कर्म पूरा कर लेते थे तभी वे अपने पदोंपर आरूढ हो सकते थे, अन्यथा उन्हें पदच्युत भी कर दिया जाता था और उनके स्थानपर किसी दूसरेकी नियुक्ति कर दी जाती थी। प्रजापति भी इसी प्रकार जनता द्वारा नियुक्त किया जाता था और यदि वह अपने कर्तव्योंका बराबर पालन नहीं करता तो पदच्युत भी कर दिया जाता था। इन समस्त व्यवस्थाओंको देखनेपर यह नहीं कहा जा सकता कि ऋषिगण राज्यशासनके प्रति उदासीन थे। सौ क्रतु करनेके पश्चात् ही कोई व्यक्ति इन्द्र पदके योग्य माना जाता था। उसके बाद भी प्रजाका अनुमोदन उसके लिये आवश्यक था। इतना सब होनेपर भी उसे अपने कर्तव्योंके प्रति सदैव जागरूक रहना पड़ता था। एक बार किसी राजपुरुषकी नियुक्ति होजानेपर वह पांच वर्षोंतक अपने पदपर रहता है और आवश्यकता अनुभव करनेपर निर्वाचनका कार्य आगे भी बढा देता है, यह बात आज हम देखते हैं। भ्रष्टाचारके कारण आज हम किसीको पदच्युत होता हुआ नहीं देखते। इतना सब होते हुए भी हम यही समझते हैं कि ऋषिगण केवल अध्यात्मका

विचार किया करते थे, वे राजनीतिसे अनभिज्ञ रहते थे अथवा उस ओर उनका ध्यान नहीं था। अतः हमें ध्यान-पूर्वक यह देखना आवश्यक है कि 'ऋषि क्या किया करते थे।'

स विशोऽनु व्यचलन् तं सभा च समितिश्च
सेना च सुरा च अनुव्यचलन्। (अथर्व. १५)

जो राजा प्रजाकी अनुमतिसे कार्य करता है उसे ग्राम-सभा, राष्ट्रसमिति, सेना और कोषकी अनुकूलता प्राप्त होती है।

शासकका बल, सेना और कोष

राजा अथवा शासकका बल सेना अथवा कोषपर अवलंबित रहता है। जिसका इनपर अधिकार नहीं होगा वह अत्याचारी नहीं हो सकता। उपर्युक्त वेदमन्त्रने स्पष्टतः ऐसा कहा है कि 'जो शासक प्रजासंमत होगा उसीको सेना एवं कोषकी अनुकूलता प्राप्त होगी। शासकके प्रतिकूल होनेपर उसका अनुसरण सेना नहीं करती। फिर भला किसके बलपर राजा स्वेच्छाचारी बन सकेगा?

समाजके आश्रित व्यक्ति

आर्थिक व्यवस्थाके विषयमें उन्होंने निर्णय किया था कि 'जगत्यां जगत्' समष्टिके आधारपर व्यक्ति रहा करता है। समष्टिका आधार हुए बिना कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। इसके सिवाय व्यक्ति तो मरणधर्मा है। जो मरणधर्मा है उसका धनपर अधिकार नहीं है। धनपर तो समष्टिका अधिकार है। आज हम समझते हैं कि धन व्यक्तिका है और इसी मान्यताके अनुसार हमारे व्यवहार चल रहे हैं। आजके हमारे कानून भी इसी बातको मानते हैं कि धनपर व्यक्तिका अधिकार है। पहले भी यही माना जाता था कि धनपर व्यक्तिका अधिकार है तथा उसकी मृत्युके पश्चात् उसके पुत्रका अधिकार है। किन्तु साथ ही यह सम्पूर्ण धन प्रजापतीका है समस्त धन समष्टिके हितके लिये किये जानेवाले यज्ञके लिये है, ऐसा भी माना जाता था। इसका अर्थ यह होता था कि व्यक्तिके लिये धन न होकर वह समष्टिके हितके लिये है।

आज हम कारखानोंके राष्ट्रीयकरणकी बातें करते हैं। यही बात 'प्रजापतीका धन है और वह यज्ञके लिये है' ऐसा मानकर पूरी की जाती थी। इसके द्वारा यज्ञमें सत्कार करने योग्यका सत्कार, जनताका संगतिकरण अर्थात् संगठन तथा दोनोंके उद्धार करनेका प्रशस्त कार्य किया जाता था। यदि हमने यज्ञोंके समाजपर होनेवाले परिणामका विचार किया तो अर्थविभागके ये तत्व सहज ध्यानमें आसकते हैं। एक व्यक्तिके पास धन संग्रहीत होकर न रहे, एतदर्थ सर्वमेध यज्ञकी व्यवस्था थी।

धन व्यक्तिका नहीं है, वह समष्टिके लिये है, यह निश्चित करके प्राचीन ऋषियोंने व्यक्तिको उसका विश्वस्त ठहराया। वे इसके लिये चाहे जिस भाषाका उपयोग करते हों; किन्तु उनका भाव यही था।

अनियन्त्रित शासनाधिकार जैसी वस्तुका उनके यहाँ कोई अस्तित्व नहीं था तथा अनियन्त्रित धनसंग्रह न होने पावे, इस विषयमें भी वे सावधान थे। इसी लेखमें इससे पूर्व हमने दर्शाया है कि-सभा, समिति, सेना और धन-कोष पर राजाका अनियन्त्रित अधिकार नहीं था। राजाके अधिकारपर इतने अधिक बंधन रखनेवाले ऋषिगण राज्य-शासनके विषयसे अनभिज्ञ थे, यह कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार हमने यहाँ देखा कि 'धनको समष्टिका मानकर और उसपर व्यक्तिके अधिकारको स्वीकार करके इन ऋषियोंने कितनी बडी आर्थिक क्रान्तिका सूत्रपात कर दिया था! यदि धनपति इन बातोंको मानकर उस दिशासे चलेंगे तो मालिक और मजदूरोंका विवाद ही समाप्त हो जावेगा।

आज इसी विवादने संसारको परेशान कर रखा है। इसका हमारे पास यही एकमात्र उपाय है। हम अपने ध्येयोंको भूल गये; इसीलिये हमें इतना कष्ट आज भोगना पड रहा है।

इस बातको सब जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति मरणधर्मा है। क्योंकि व्यक्ति अधिकसे अधिक सौ डेडसौ या दो सौ वर्षोंतक जीवित रह सकता है। इसके पश्चात् तो वह मरेगा ही। किन्तु समाजतो शाश्वत टिकनेवाला है। समष्टि अमर है।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्या अमृतमश्नुते।
वा० य० ३०

'व्यक्ति अपने दैनंदिन प्रयत्नों द्वारा दुःखोंको दूर

करता है और संभूति द्वारा अमरत्व प्राप्त करता है।' सम्भूतिका अर्थ है समष्टि। संघजीवनमें अमरता है। एक एक हिन्दु व्यक्तिके मरनेपर भी हिन्दु समष्टि अमर है। इसलिये व्यक्तिको समष्टिकी सेवा करनी चाहिये। व्यक्तिको यदि कृतकृत्य होना हो तो वह समष्टिके आश्रयसे ही हो सकता है, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है। समष्टि अमर है। उसीको स्थायी अस्तित्व प्राप्त है। व्यक्ति मरणधर्मा है, इसी बातको दर्शानेके लिये 'विनाश' शब्दका प्रयोग उपर्युक्त मन्त्रमें किया गया है। व्यक्तिको समझना चाहिये कि धन समष्टिके लिये है और मैं उसके लिये विश्वस्त हूँ। विश्वस्त रहनेपर धन चाहे जितना इकट्ठा करे और उसे समष्टिके हितके लिये लगावे। इसीका नाम यज्ञ है।

वैदिक विधान

वैदिक शासनव्यवस्थामें इन सब बातोंका अन्तर्भाव हो जाता है। जब वैदिक विधान बनेगा उस समय उसमें ये बातें समाविष्ट हो जावेंगी।

आज अध्यात्म विद्याके विषयमें यह मान्यता है कि वह संसार-त्यागकी विद्या है किन्तु प्राचीन कालमें उसे संसारकी उत्तम व्यवस्था करनेवाली विद्या माना जाता था। विचारोंके इस अन्तरपर ध्यान देना चाहिये। इसका एक और उदाहरण लीजिये—

मैं शक्तिशाली हूँ

'अहं ब्रह्मास्मि' यह उपनिषदोंका महावाक्य है। 'ब्रह्म' का अर्थ है एक बहुत बड़ी शक्ति। यह शक्ति मैं हूँ। मैं महाशक्ति हूँ, यह है इस महावाक्यका अर्थ। प्रत्येक मनुष्यको ऐसा प्रतीत हुआ करता है कि मैं बिल्कुल 'निर्बल' हूँ। उसकी यह भावना इस वचन द्वारा दूर करके यह बताया कि उपर्युक्त भावना सत्य नहीं है। मनुष्य तो बड़े भारी सामर्थ्यसे युक्त है। महान सामर्थ्य ही उसका सच्चा स्वरूप है।

मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा कहते ही यह सिद्ध हो जाता है कि मैं खूब सामर्थ्यवान् हूँ। इसके पश्चात् कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा आज माना जाता है। क्या यह मान्यता ठीक है? मैं निर्बल हूँ, इस प्रकारकी प्रतीति होनेतक तो कर्म किये जांय और मैं बहुत सामर्थ्यशाली हूँ, ऐसा अनुभव होनेपर कर्मत्याग किया जाय, इस प्रकारका यह उलटा मार्ग लोगोंको किस प्रकार सयुक्तिक प्रतीत होता है, यही आश्चर्य है!!!

अधिक दायित्व किसपर?

वास्तवमें विचार करनेपर तो यही बात सयुक्तिक प्रतीत होती है कि जबतक मनुष्य यह मानता रहे कि 'मैं निर्बल हूँ' तबतक उसपर कर्म करनेका उत्तरदायित्व कम हो और जब वह निश्चय पूर्वक यह मानने लग जाय कि 'मैं सामर्थ्यवान् हूँ' तब उसपर बड़े बड़े कर्म करनेका उत्तरदायित्व डाला जाय। किन्तु आजके सभी तत्वज्ञानी इससे विरुद्ध विचारोंका ही प्रचार करते हुए दिखाई देते हैं।

प्राचीन इतिहासकी ओर दृष्टिपात करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा जनक, भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् रामने अध्यात्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर मानवोद्धारके बड़े बड़े कार्य किये। इनमेंसे कोई भी निष्क्रिय नहीं बैठा।

पुरुषोत्तम स्थिति

आजके तत्वज्ञानी संतमहंतोंका सर्वसाधारण चिन्ह यह माना जाने लगा है कि वह निष्क्रिय हो। लोग भी यही समझते हैं कि ऐसे निष्क्रिय व्यक्ति ब्राह्मी स्थितिपर पहुंच चुके हैं तथा उनके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है। वास्तवमें जो सच्चा आत्मज्ञानी होगा, जो यह निःसंशय समझता होगा कि 'मैं ब्रह्म हूं' 'मैं महान् शक्ति हूँ' वह तो जनहितके महान् कर्म करेगा ही। उसकी आन्तरिक शक्ति उसे स्वस्थ बैठने ही न देगी। भगवान् श्रीकृष्णने अपनी १२५ वर्षकी आयुमें जनहितके किये जो जो कार्य आवश्यक थे वे वे सतत रूपसे किये। यही हमारा आदर्श पुरुष है और यही पुरुषोत्तम है।

जो क्षत्रिय थे वे तो राज्यशासन करते ही थे किन्तु साथ ही वे ब्रह्मज्ञानी भी थे। इसके स्पष्ट उदाहरण जनक, श्रीकृष्ण और राम हैं। वसिष्ठ जैसे तत्वज्ञानी ब्राह्मण गुरुकुलमें हजारों युवकोंको विद्यादान करनेका पवित्र कार्य करते थे और इसीके साथ रघुकुलका पौरोहित्य करके राज्य व्यवस्थाकी ओर भी ध्यान देते थे। प्राचीन युगमें कोई तत्वज्ञानी निष्क्रिय नहीं दिखाई देता। राज्यशक्तिके अनुकूल होनेपर ही सम्पूर्ण समाजकी स्थिति ठीक प्रकारसे

जम सकती है । वसिष्ठ जैसे ऋषि तो राज्यके सूत्रोंका संचालन भी किया करते थे ।

आज जिस प्रकार अध्यात्मज्ञानको निष्क्रियता फैलानेवाला समझा जाता है वैसा वह वास्तवमें नहीं है । समस्त विश्व एक जीवन है तथा मैं महान् सामर्थ्यसे युक्त हूँ, यह बात तत्वज्ञानसे सिद्ध होती है और यह सिद्ध हो जानेपर ही बडे बडे कार्य करनेकी शक्ति मनुष्यमें आ जाती है ।

आज सर्वथा विपरीत माना जाने लगा है ! इस कारण हमारे ज्ञानी लोग राजनीति एवं लोकव्यवहारसे दूर हुए हुए दिखाई पडते हैं । किन्तु ऐसा होनेका कोई कारण नहीं है । मनुष्यको अपने जीवनमें अनेक कर्म करने होते हैं । यह सब ज्ञानप्राप्तिके पश्चात् ही उससे हो सकता है । श्री कृष्णने अर्जुनको गीताका ज्ञान दिया और उसके पश्चात् उसने युद्ध किया । अध्यात्मज्ञान प्राप्त होनेसे पूर्व वह शिथिल एवं उदास था । अध्यात्मज्ञान प्राप्त होते ही वह स्वराज्य प्राप्तिके कार्यमें लग गया ।

अध्यात्म ज्ञानका यह प्रत्यक्ष परिणाम दिखाई देनेपर भी जनता इस विषयमें अपने विपरीत भाव बना बैठे, यह दुर्भाग्यकी ही बात है । आत्मज्ञान तो राज्य शासकके लिये भी सहायक है । यही नहीं, अपितु वही भारतीय संस्कृतिका पाया है, यह बात प्रत्येकको स्मरण रखनी चाहिये ।

(लेखाङ्क ३३)

सामुदायिक जीवन

सामुदायिक जीवन

वैदिक आर्योंका जीवन सामुदायिक था । आज हमारा जीवन वैयक्तिक बन गया है । 'कौन किसका है' जैसी भाषाका उपयोग आज हम करने लगे हैं । समाजका क्या होगा ? इस बातकी चिन्ता हमें नहीं रहती । हम तो सोचते हैं कि 'मुझे मुक्ति किस प्रकार मिलेगी ?' किन्तु इस बातकी ओर हमारा ध्यान नहीं है कि मानव समाजको अमृतत्वकी प्राप्ति किस प्रकार होगी । इसका एकमात्र कारण यह है कि 'सम्पूर्ण विश्वरूप एक अखण्ड जीवन है' इस मूलभूत कल्पनाको हम भूल गये और यह मानने लग गये कि मैं संसारसे पृथक् अकेला और स्वतन्त्र हूँ । मैं यहाँ अकेला ही आया हूँ, अकेला ही जीवित रहता हूँ और अकेला ही मरता हूं । जो कुछ भला या बुरा होना है वह मेरे अकेलेका ही होनेवाला है । इस प्रकारकी यह जैन और बौद्धोंकी कल्पना हमारे अन्दर भी दृढमूल हो गई है । हमारे अकेलेपनके विचारोंमें यही कारणीभूत हो गई है ।

वैदिक कालके ऋषि सामुदायिक जीवन बिताते थे । सामुदायिक जीवनके हितके लिये अपने जीवनमें यज्ञ करना अपना ध्येय मानते थे और अपनी समस्त आकांक्षा एवं प्रार्थनाओंमें 'हम' का बहुवचनी प्रयोग करते थे । जो कुछ बनना या बिगडना होगा वह हम सबका होगा । इस बातको वे जानते थे ।

यज्ञदृष्टि

सारे गांवमें छूतकी बीमारी फैल जाय तो सम्पूर्ण ग्रामके आरोग्यकी रक्षाके लिये पूरे गांवकी स्वच्छताके लिये प्रयत्न होने चाहिये । सम्पूर्ण गांवकी स्वच्छता हो जानेपर हमारे घरकी भी स्वच्छता तो हो ही जाएगी । यह थी प्राचीन भावना और इसीको 'यज्ञ दृष्टि' कहा जाता था । प्रत्येक यज्ञका परिणाम सामुदायिक हित हुआ करता था । और कोई समझे या न समझे, कोई माने या न माने, हमें समुदायके लिये जो कर्तव्य है वह करना ही चाहिये । निष्काम कर्मका यह अर्थ है । बदला मिलेगा इस दृष्टिसे यज्ञ नहीं करना है; अपितु यह तो कर्तव्य मानकर ही उसे तो करना चाहिये । एतदर्थ किस प्रकारकी सामुदायिक भावना अपेक्षित है, यह इस लेखमें बतायेंगे ।

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ऋग्वेद, यजु, साम

'उस सविता देवके श्रेष्ठ तेजका हम ध्यान करते हैं जो हम सबकी बुद्धिको प्रेरणा देता है ।' (गायन्तं त्रायते) गानेवालेकी रक्षा करनेवाला यह मन्त्र है; इसका उच्चारण समुदाय द्वारा होनेपर ही वह रक्षण होगा ।

इस मन्त्रमें 'धीमहि' और 'नः' ये दोनों पद बहुवचन है । वैदिक कालमें सामुदायिक प्रार्थना तथा सामुदायिक जप करनेकी परिपाटी थी । सामुदायिक प्रार्थनामें ही

'हम ध्यान करते हैं,' और 'वह हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे' इन शब्दोंको उपयुक्त माना जा सकता है। आज हम अकेले अकेले सन्ध्या किया करते हैं। किन्तु घरके सभी स्त्रीपुरुष मिलकर इस प्रकार सन्ध्या प्रार्थना करते हुए किसी हिन्दु घरमें दिखाई नहीं देंगे। एकाकी रहकर सन्ध्या और गायत्रीका जप करते समय (देवस्य भर्गं धीमहि) देवके तेजका हम सब मिलकर ध्यान करते हैं, ऐसा कहना क्या उचित होगा? इसका विचार भी उपासना करनेवाले के मनमें उत्पन्न नहीं होता!

इस सामुदायिक प्रार्थनाको हमने सर्वथा वैयक्तिक बना डाला है। पारिवारिक उपासना हममें नहीं रही, सामुदायिक प्रार्थना हमें स्मरण भी नहीं है, इतना ही नहीं है; अपितु सामुदायिक हितके यज्ञ भी आज हममेंसे लुप्त हो गये हैं। जो मन्दिर आज अस्तित्वमें हैं उनमें जाकर भी कोई सामुदायिक प्रार्थना नहीं करता। हम सामुदायिक विचारोंसे इतने दूर चले गये हैं। वैदिक ऋषियोंका जीवन तो सामुदायिक जीवन था। देखिये-

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्॥
अथर्व०

हमारे ब्राह्मणोंमें तेज हो, हमारे क्षत्रियोंमें, राजाओंमें तथा राजपुरुषोंमें तेज बढे वैश्य एवं शूद्रोंमें तेज रहे और इसी प्रकार मुझमें भी तेज रहे।

हमारे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंमें तेजस्विता बढे तथा हमारे राष्ट्रके समस्त लोग अत्यन्त तेजस्वी हों। इस प्रकारकी यह प्रार्थना निःसन्देह सामुदायिक है।

सबके लिये अन्न

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योग क्षेमो नः कल्पताम्। वा. यजु.

'योग्य समय हमारे देशमें अच्छी वर्षा हो। औषधि, एवं वनस्पति फल-पुष्पवती होकर परिपक्व हों और हम सबका योगक्षेम उत्तम प्रकारसे चलता रहे।' निःसंशय यह सामुदायिक प्रार्थना है। यज्ञके अन्तमें यह की जाती थी। आज भी इसका उपयोग सामुदायिक प्रार्थनाके रूपमें हो सकता है। और भी देखिये—

आपो हि ष्ठा मयोभुवः ता न ऊर्जे दधातन।
शं नो देवीरभिष्टये। शं न आपो धन्वन्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः। शिवा नः सन्तु वार्षिकीः। अथर्व. १।५।६

'जल हमारा बल बढावें ... कुएँ, तालाब तथा वृष्टिके जल हम सबके लिये सुखकर हों।' इस प्रार्थनामें 'हम सबका हित' इन जलोंसे हो, ये शब्द सामुदायिकताको सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामि यथा नोऽसो अवीरहा।
अथर्व. १।१६।४

'यदि हममेंसे किसीकी गाय मारेगा, घोडेका वध करेगा अथवा मनुष्यकी हत्या करेगा तो तेरा हम सीसेकी गोलीसे वेध करेंगे। यह भी सामुदायिक सुरक्षाका ही द्योतक है; इसमें सीसेकी गोलीसे वेध करनेका जो उल्लेख है वह संशोधकोंके लिये एक विचारणीय उत्तम प्रश्न है। बंदूककी कल्पना यहाँ की जा सकती है अथवा सीसेका अन्य किसी प्रकारसे उपयोग सम्भव हो तो वह भी विचारणीय है। और देखिये—

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं निरराति सुवामसि। अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अराति नयामसि।
अथर्व० ११८।१

'सब प्रकारके दुश्चिह्न हमसे दूर हों और जो कल्याणकारक चिन्ह हों वे सब हमारी प्रजाओंके पास आवें। अनुदारता हमसे दूर रहे।'

'समस्त उत्तम लक्षण हमारे पास आवें' ऐसा यहाँ कहा गया है। 'मेरे पास आवें' ऐसा नहीं कहा गया। वह वैदिक ऋषियोंकी सामूहिक प्रार्थना है। इसी प्रकार—

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन्। अथर्व० १।१९

'वेध करनेवाले शत्रु हमारे पास न आवें। अर्थात् हमारा पता हमारे शत्रुओंको न लगे। हम सब उनके आक्रमणसे दूर और सुरक्षित रहें। सबकी सुरक्षाके लिये यह सामुदायिक प्रार्थना है। इसी प्रकार—

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जंगिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ।
अथर्व० २।४।६

'अपकृत्योंसे रक्षा करनेवाला, शत्रुको दूर करनेवाला और बल बढानेवाला यह जंगिड मणि है । वह हम सबकी आयु बढावे ।' यहाँ सबकी आयु बढानेकी सामुदायिक प्रार्थना की गई है। और देखिये—

धाता दधातु नो रयिं ईशानो जगतस्पतिः ।
स नो पूर्णेन यच्छतु ॥ १॥ धाता दधातु दाशुषे
प्राचीं जीवातुमक्षिताम् । वयं देवस्य धीमहि
सुमतिं विश्वराधसः ॥ २॥ अथर्व० ७।१७

'इस विश्वका पालक ईश्वर हम सबको धन देवे । वह हम सबको पूर्णतासे युक्त करे । वह देव हम सबको दीर्घायु प्राप्त्यार्थ अक्षय पूर्व दिशासे आनेवाला तेज देवे । हम सब मिलकर इस देवका ध्यान करते हैं । उस सर्व शक्तिमान ईश्वरकी उत्तम बुद्धि हमारे लिये सहायक होवे ।

यह प्रार्थना तो वैयक्तिक हो ही नहीं सकती । इस प्रकारकी प्रार्थनायें सामुदायिक रीतिसे वैदिक ऋषि किया करते थे और अपनी संघ शक्ति बढाया करते थे । हमारी निर्बलताका यह भी एक प्रमुख कारण है कि हमने सामुदायिक प्रार्थनाका त्याग कर दिया ।

अब वैदिक राष्ट्रगीतके सामुदायिक प्रार्थनाके कुछ मन्त्र देखिये । यह राष्ट्रगीत है तथा इसका गान ग्रामपत्तन एवं राष्ट्रादिके संरक्षणके समय सामुदायिक रीतिसे किया जाता था । उसमेंके किन्हीं मन्त्रोंको देखिये —

वैदिक-राष्ट्रगीत

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् । गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

'जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे पूर्वजोंने बडे बडे पराक्रम किये, जिस मातृभूमिमें विबुधोंने राक्षसोंको दबा दिया, जो हमारी मातृभूमि गाय, घोडे और पक्षियोंका उत्तम निवास-स्थान है वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य एवं तेज देवे ।' इसी प्रकार—

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्यात् यो अभिदासान्मनसा यो वधेन । तं नो भूमे रंधय पूर्व कृत्वरि ॥ १४ ॥

'हे मातृभूमि ! जो हमारा द्वेष करता हो, जो हमपर, सेना भेजता हो, जो हमें मनसे दास बनानेकी युक्तियाँ सोचता हो, जो हमारा वध करनेका प्रयत्न करता हो, हे मातृभूमि ! तू उसका पूर्णतः विनाश कर डाल । इसी प्रकार—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पंच मानवा। येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्यः उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

'हे मातृभूमि ! तुझसे उत्पन्न होकर तुझपर घूमनेवाले हम सब यहाँपर एकत्रित हुए हैं । तू ही हम सब द्विपाद एवं चतुष्पाद प्राणियोंको धारण करती है । हम पाचों प्रकारके मानव तेरे ही हैं । (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद ये सब तेरे ही पुत्र होनेके कारण हम परस्पर बन्धु हैं) उगनेवाला सूर्य इन सबको तेजरूपी अमृत अपनी किरणोंसे दिया करता है ।' और देखिये—

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते । प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भां आशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

'हमारी मातृभूमिमें जो नगर हैं वे देवोंने निर्माण किये हैं । जिसके क्षेत्रमें हमारे लोग विशेष उद्योग किया करते हैं, सम्पूर्ण खनिज पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये प्रत्येक दिशामें रमणीय हो, भयप्रद न हो । आगे देखिये—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम् । सहस्रंधारा द्रविणस्य नो दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

'अनेक प्रकारकी भिन्न भिन्न भाषा बोलनेवाले लोगोंको तथा अनेक धर्मोंके लोगोंको एक घरके कुटुम्बियोंकी तरह धारण करनेवाली हमारी मातृभूमि दूध निकालते समय न हिलनेवाली गायकी तरह धनरूपी दूधकी हजारों धारायें हमें दे ' इसी प्रकार—

'ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानः सश्च यातवे । यैः संचरन्त्युभये भद्रपापाः तं पन्थानं जयेमान मित्रं अतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥

'हे मातृभूमि! तेरे जो मार्ग रथ एवं मनुष्योंके आने जानेके लिये हैं, जिस मार्गपर जैसे सज्जन आते हैं उसी प्रकार दुष्ट भी आते जाते हैं वे मार्ग हम सबके लिये शत्रु-रहित एवं चोर रहित होवें। जो कुछ भी कल्याणकारक हो उन सबसे हम सबको सुखी कर।'

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदाम ते ॥५६॥

'जो ग्राम, जो अरण्य, जो सभायें, जो संग्राम, जो समितियाँ हमारी मातृभूमि पर हैं उन सबमें हे मातृभूमि! तेरे विषयमें हम उत्तम ही बोलेंगे।'

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः। दीर्घं न आयु प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥

अथर्व कां. १२

'हे मातृभूमि! हम तेरी सेवा करनेवाले निरोगी और आरोग्यपूर्ण होंगे। तुझसे उत्पन्न हुए समस्त भोग हमें प्राप्त होवे, हम ज्ञानी बनकर दीर्घायु होवें और तेरे लिये आत्मसर्वस्वका बलि देनेवाले होवें।'

इस प्रकारकी सार्वजनिक प्रार्थनायें वेदोंमें हैं। इन प्रार्थनाओंमें कुछ तो विशुद्ध राष्ट्रीय प्रार्थनायें ही हैं। वैदिक राष्ट्रगीतान्तर्गत मन्त्रोंद्वारा प्रदर्शित प्रार्थना विशुद्ध राष्ट्रीय ही हैं। इसमेंका ४५ वाँ मन्त्र देखनेपर पाठकोंको ऐसा विदित होगा मानो अथर्वा ऋषिने उसे भारतकी वर्तमान परिस्थिति देखकर ही रचा हो। आज यहाँ अनेक भाषा बोलनेवाले तथा अनेक धर्मोंका पालन करनेवाले लोग हैं; किन्तु अथर्वा ऋषिके वर्णनानुसार वे एक घरमें एक कुटुम्बी की तरह एक मतसे रहनेवाले नहीं हैं। आपसमें झगडे और विरोध तो यहाँपर खूब है। इतना ही नहीं अपितु यहाँ तो एक धर्मके लोगोंने अपना एक प्रान्त ही अलग तोड लिया है और फिर भी सतानेका उनका उपक्रम जारी ही है। अथर्वा ऋषिको इस विपरीत परिस्थितिके निर्माणकी कल्पना ऐसे पवित्र भारतमें नहीं थी। जो बात वैदिक ऋषियोंके स्वप्नमें भी नहीं थी वही आज प्रत्यक्ष हुई दिखाई दे रही है।

हिन्दुओंको वेदोंका अभिमान तो है, परन्तु वेदोंकी सामुदायिक प्रार्थनायें करना उन्होंने छोड दिया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवनमें सामुदायिक प्रार्थना उपासना आदि सामुदायिक कृत्योंका कितना महत्व है? यह बात आज भी हिन्दुओंके गले उतारनेकी आवश्यकता है! यदि हिन्दु चाहते हों कि हममें सामुदायिक बल निर्माण हो तो वह संगठन द्वारा ही प्राप्त हो सकता है और संगठन कार्यके लिये जो अनेक साधन हैं उनमें सामुदायिक प्रार्थनाका महत्व कम नहीं है। वैदिक ऋषियोंकी दूरदर्शिता इन प्रार्थनाओंमें स्पष्टतः प्रतिलक्षित हो रही है और हमारी तो यही कामना है कि वही बात आज उनके वंशजोंमें भी उत्पन्न होवे। (अनुवादक- पं. महेशचन्द्र शास्त्री)

आगामी परीक्षायें

संस्कृत भाषा परीक्षाओंकी आगामी तिथियाँ

१- आगामी परीक्षा	दिनाङ्क	२९-३० अगस्त ५३ ई.
२- आवेदन पत्र भरनेका	,,	४ जुलाई ५३ ई.
३- पारडी कार्यालयमें भेजनेका	,,	११ जुलाई ५३ ई.
४- सीधे आवेदन पत्र भरनेका	,,	२० जून ५३ ई.

वाशिंगटन स्थित भारतीय दूतावासके एक अधिकारीका
संस्कृतभाषा एवं वैदिक साहित्यके विषयमें

एक महत्वपूर्ण पत्र

प्रिय महाशय

मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ होऊंगा अगर आप कृपा करके हिन्दु-धर्म-ग्रन्थोंकी सूची मेरे पास भेज दें। मैंने हाईस्कूलमें संस्कृत पढा था, परन्तु भूल गया हूँ। अमेरिका आनेपर अमेरिकन प्रोफेसरोंके संस्कृत प्रेमको देखकर मुझे फिर इच्छा हुई कि धीरे धीरे संस्कृतभाषाका ज्ञान प्राप्त करू। क्या आपने कोई ऐसी पुस्तक प्रकाशित की है जिसके द्वारा आसानीसे संस्कृत सीखा जा सके। मुझे याद आती है कि आपने संस्कृत सीखनेके लिये कई भाग प्रकाशित किये हैं। मैं वेद और उपनिषद् एवं छः दर्शनोंको खरीदना चाहता हूँ- अगर संस्कृत मूलके साथ हिन्दी अनुवाद भी दिये हुए हों।

अमेरिकामें मुझसे वेदान्तके प्रचारमें जो कुछ हो सकता है, कर रहा हूँ। अभी हालमें एक अमेरिकन प्रोफेसरसे भेंट हुई जो गत तीस सालसे भारतीय दर्शन पढा रहे हैं। और जीवन भी हिन्दुके समान बिता रहे हैं। अपनेको हिन्दु कहते है। उन्होंने इच्छा प्रकट की है कि वे वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि पुस्तकें चाहते है। उनके पास अंग्रेजीमें बहुत विषयोंपर पुस्तकें हैं। वे चाहते हैं कि अगर भारतमें उन पुस्तकोंको कोई लेना चाहे तो वे भेज देंगे। उन पुस्तकोंके बदले वे वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि चाहते हैं। आपका मैं बहुत कृतज्ञ होऊंगा अगर आप परिवर्तनके सम्बन्धमें कुछ प्रबन्ध कर सके। अगर मेरे पास साधन होते तो मै स्वयं धर्म-पुस्तकें खरीदकर उन्हें दे देता।

विदेश आनेपर अपनी भाषा और संस्कृतिके प्रचारके लिये मेरा मन लालायित हो उठा है। स्वामी रामतीर्थ एवं स्वामी विवेकानंदकी पुस्तकोंको पढकर यह अभिलाषा और तीव्रतर हो उठी है। शंकराचार्यके ब्रह्मसूत्र एवं अन्यान्य ऋषि प्रणीत ग्रंथोंको पढनेके लिये मैं बहुत उत्सुक हूं। अतः परामर्श देकर आप सहायता करें। मै आपके पत्रोत्तरकी प्रतीक्षा उत्सुकता पूर्वक कर रहा हूँ। अमेरिकन प्रोफेसर संस्कृतके विद्वान् हैं ··· ·· ··· ···।　　　　भवदीय

स्थान ··· ··· ··· ९ अप्रैल ५३ ई.　　　　·· · ··

दिव्य जीवन

(श्री अरविन्द)

[अनुवादक — चन्द्रदीप]

अध्याय ८

वेदांतिक ज्ञान-पद्धतियां

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ कठोपनिषद ३. १२

सब भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकट नहीं है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टिवाले इसे सूक्ष्म परम बुद्धिके द्वारा देख पाते हैं।

परंतु इस सच्चिदानंदकी क्रियाएं तब जगतमें किस प्रकारकी होती हैं और वस्तुओंको किस प्रक्रियाके द्वार इसके और उसके रूपान्वित करनेवाले अहंकारके बीच जो संबंध हैं वे आरंभमें स्थापित होते हैं और क्रमशः अपनी चरमावस्थातक पहुंचते हैं? क्योंकि इन संबंधोंपर तथा जिस प्रक्रियाका ये संबंध अनुसरण करते हैं उसपर मनुष्यके लिये दिव्य जीवन संबंधी सिद्धांत और साधना निर्भर करेंगे।

इंद्रियोंकी गवाहीका अतिक्रमण कर तथा भौतिक मनकी भीतोंका भेदनकर हम दिव्य जीवनकी धारणा और ज्ञानको प्राप्त होते हैं। जबतक हम अपनेको इंद्रियोंकी गवाही तथा भौतिक चेतनाके घेरेके अंदर ही बंद किये रहते हैं तबतक हम स्थूल जगत् और इसकी घटनाओंके सिवा कुछ नहीं सोच सकते, कुछ नहीं जान सकते। परंतु हमारे अंदर कतिपय ऐसी वृत्तियां हैं जो हमारे मनको ऐसी धारणाओंमें पहुंचा देती हैं जिन्हें हम भौतिक जगतके तथ्योंकी जांच करके भी वितर्क या कल्पनात्मक परिवर्तनके द्वारा सिद्ध तो कर सकते हैं, पर वास्तवमें कोई भी सर्वथा भौतिक सिद्धांत या अनुभव उनका समर्थन नहीं करता। इन वृत्तियोंमें सबसे पहली वृत्ति है विशुद्ध बुद्धि।

मानव-बुद्धिमें द्विविध क्रिया होती है, मिश्रित या पराश्रित, विशुद्ध या स्वाश्रित। बुद्धि जब हमारे इंद्रियानुभवके चक्रके अंदर ही दौरा लगाती है, जब वह इस अनुभवके धर्मको ही अंतिम सत्य मान लेती है तथा जब वह बाह्य घटनाके अध्ययनके साथ ही, अर्थात् चीजें अपने संबंधों, प्रक्रियाओं और उपयोगिताओंमें जैसी दीखती हैं उस दृश्य रूपके साथ ही मतलब रखती है तब वह मिश्रित क्रियाको मानकर चलती है। यह तार्किक क्रिया, जो कुछ है इसको नहीं जान सकती, वह तो जो कुछ दीखता है केवल उसीको जानती है; उसके पास सत्ताकी गहराईकी थाह लेनेके लिये कोई लंगर नहीं होता, वह तो केवल संभूतिके क्षेत्रकी पैमाइश ही कर सकती है। दूसरी ओर, बुद्धि अपनी विशुद्ध क्रियाका प्रमाण तब देती है जब कि वह हमारे इंद्रियानुभवोंको एक आरंभिक स्थल तो मानती है, पर उन्हींमें बंधे रहनेसे इनकार कर उनके पीछे चली जाती है तथा वहींसे उनका *निर्णय करती*, स्वाधिकारसे कार्य करती तथा उन सार्वत्रिक और अपरिवर्तनीय धारणाओंतक पहुंचनेकी चेष्टा करती है जो वस्तुओंके बाह्य रूपोंके साथ नहीं, बल्कि उसके साथ जुडी हुई होती हैं जो उनके बाह्य रूपोंके पीछे रहता है। वह यह भी कर सकती है कि बाह्य रूपोंके पीछे जो कुछ है उसमें बिना किसी माध्यमके सीधे प्रवेश कर साक्षात् निर्णयके द्वारा अपने परिणामतक पहुंच जाय और तब जो धारणा प्राप्त होती है वह ऐसी प्रतीत हो सकती है कि यह इंद्रियानुभवका ही परिणाम है और उसीपर निर्भर करती है, यद्यपि वास्तवमें वह होता है अपने ही अधिकारसे कार्य करती हुई बुद्धिका बोध। परंतु विशुद्ध बुद्धिके बोध भी मात्र एक बहानेके तौरपर आरंभिक इंद्रियानुभवका प्रयोग कर अपने परिणामतक पहुंचनेके बहुत पहले उसे रास्तेमें ही छोड दे सकते हैं— और यह उनकी अपनी विशिष्ट क्रिया है—इतनी दूरीपर

छोड दे सकते हैं कि प्राप्त परिणाम उस बातके सर्वथा विपरीत मालूम हो सकता है जिसे हमारा इंद्रियानुभव हमपर लादना चाहता है। यह क्रिया वैध और अनिवार्य है, क्योंकि हमारा साधारण अनुभव जागतिक तथ्यके केवल एक अतितुच्छ भागका ही स्पर्श नहीं करता, बल्कि अपने निजी क्षेत्रकी सीमाओंमें भी ऐसे उपकरणोंका प्रयोग करता है जो सदोष होते हैं और इसलिये वह हमें इस क्षेत्रका मिथ्या तौल और नाप ही देता है। इस साधारण अनुभवका अतिक्रमण करना होगा, इसे दूर फेंक देना होगा और इसके हठोंका बारंबार तिरस्कार करना होगा, यदि हम वस्तुओंके सत्यकी अधिक पर्याप्त धारणाओंतक पहुंचना चाहते हैं। बुद्धिके प्रयोगके द्वारा इंद्रियाश्रित मनकी भूलोंको सुधारना उन कीमती शक्तियोंमेंसे एक है जिन्हें मनुष्यने विकसित किया है और यही प्रधान कारण है समस्त पार्थिवी जीवोंमें उसकी श्रेष्ठताका।

विशुद्ध बुद्धिका पूर्ण प्रयोग अंतको हमें भौतिक ज्ञानसे तात्त्विक ज्ञानमें पहुंचा देता है। परंतु तात्त्विक ज्ञानकी धारणाएं हमारी संपूर्ण सत्ताकी मांगको स्वयमेव पूरा नहीं करतीं। अवश्य ही, स्वयं विशुद्ध बुद्धिको तो ये सर्वथा संतुष्ट कर देती हैं, क्योंकि ये ही तो उपादान हैं उसके अस्तित्वके। परंतु हमारी प्रकृति वस्तुओंको सदा दो दृष्टियोंसे देखती है, भावनाके रूपमें और तथ्यके रूपमें; इसलिये प्रत्येक धारणा हमारे लिये असंपूर्ण होती है तथा हमारी प्रकृतिके एक भागके लिये असत्यही होती है तबतक जबतक कि वह अनुभवमें नहीं आ जाती। परंतु जिन सत्यों की चर्चा यहां हो रही है वे ऐसी व्यवस्थाके हैं जो हमारे साधारण अनुभवके अधीन नहीं है। वे अपने स्वभावमें इंद्रियानुभवके अतीत पर बुद्ध्यानुभवके द्वारा ग्राह्य हैं (बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम्+)। इसलिये अनुभव प्राप्त करनेवाली किसी दूसरी ही वृत्तिकी आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा हमारी प्रकृतिकी मांग पूरी की जा सके, और यह केवल,—चूंकि यहां अतिभौतिक वस्तुओंके साथ हमारे संबंधका सवाल है— तभी प्राप्त हो सकती है जब कि हम मानसिक अनुभवके क्षेत्रको विस्तृत करें।

एक अर्थमें हमारे सभी अनुभव मानसिक हैं, क्योंकि इंद्रियोंके द्वारा जो कुछ हम ग्रहण करते हैं उसका हमारे लिये तबतक कोई माने या मूल्य नहीं होता जबतक कि वह हमारे इंद्रियाश्रित मनके सांचेमें नहीं ढल जाता—इस मनको ही भारतीय दार्शनिक परिभाषामें मनस् कहा गया है। मनस्, हमारे दार्शनिक कहते हैं कि, छठा इंद्रिय है। परंतु हम यह भी कह सकते हैं कि यही एकमात्र इंद्रिय है और यह कि दूसरी इंद्रियां, आंख, कान, त्वचा, नाक, जीभ-रूप, शब्द, गंध और रस जिनके विषय हैं, और कुछ नहीं बल्कि उस इंद्रियाश्रित मनके ही विशेषीकरण-मात्र हैं, और यह मन यद्यपि साधारण अवस्थामें अपने अनुभवके आधारस्वरूप इंद्रियोंका प्रयोग करता है, फिर भी वह इनके परे है और इनके माध्यमके बिना ही इनके विषयोंका सीधा अनुभव करनेकी क्षमता रखता है, जो उसकी अंतर्निहित क्रियाका स्वकीय धर्म ही है। नतीजा यह होता है कि मानसिक अनुभव, बुद्धिके बोधकी ही भांति मनुष्यमें दोहरी क्रिया कर सकता है—मिश्रित या पराश्रित, विशुद्ध या स्वाश्रित। साधारणतया इसकी मिश्रित क्रिया तब होती है जब मन बाह्य जगत्को अर्थात् विषयको जाननेकी खोजमें लगाता है और विशुद्ध क्रिया तब जब कि यह अपने-आपको, अर्थात् विषयीको जाननेकी खोजमें नियुक्त होता है। पहली क्रियामें यह इंद्रियोंके आश्रित रहता है और अपने बोधोंको उनकी गवाहीके अनुसार ही गढता है, दूसरीमें यह स्वयं अपने अंदर क्रिया करता और वस्तुओंके साथ एक प्रकारका तादात्म्य कर बिना किसी सहारेके उनको सीधा जान लेता है। इसी प्रकार, अर्थात् तादात्म्यके द्वारा ही, हम अपने भावावेगोंको जानते हैं, हम अपने क्रोधको जानते हैं, क्योंकि, जैसा कि चुभती हुई भाषामें कहा गया है, हम खुद ही क्रोध बन जाते हैं। इसी प्रकार हम अपने निजी अस्तित्वको भी जानते हैं और यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि तादात्म्यके द्वारा प्राप्त किये हुए ज्ञानका स्वरूप क्या है? वास्तवमें सभी अनुभव अपने गुह्य स्वभावमें तादात्म्यके द्वारा पाया हुआ ज्ञान ही है; परंतु उनका सच्चा स्वभाव हमसे इसलिये छिपा हुआ है कि बहिष्कारके द्वारा, इस भेदके द्वारा कि हम स्वयं तो विषयी और दूसरी सभी चीजें विषय हैं, हमने अपने-आपको बाकीकी दुनियांसे अलग कर लिया है, और इसलिये यह अनिवार्य हो जाता है कि हम ऐसी प्रक्रियाओं और उपकरणोंको विकसित करें जो हमारा उन

+ गीता

सबके साथ फिरसे संयोग करा दे जिनका हमने बहिष्कार कर रखा है। हमें सचेतन तादात्म्यके द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञानके स्थानपर उस अप्रत्यक्ष ज्ञानकी स्थापना करनी होती है जो शारीरिक संस्पर्श और मानसिक सहानुभूतिसे उद्भूत हुआ प्रतीत होता है। यह परिच्छिन्नता अहंकारकी मूलगत सृष्टि है तथा भौतिक मिथ्यात्वसे आरंभ कर और फिर उससे जन्मे हुए अन्यान्य मिथ्यात्वोंसे वस्तुओंके सच्चे सत्योंको ढंक कर मिथ्यात्व हमारे लिये वस्तु-संबंधके व्यावहारिक तथ्य बन जाते हैं—जिस ढबसे वह आदिसे अंततक चला है उसका निदर्शन है।

जो मानसिक और ऐंद्रिक ज्ञान हमारे अंदर इस समय संगठित है उसके इस स्वभावको देखते हुए यह परिणाम निकलता है कि हमारी वर्तमान सीमाओंका बने रहना कोई अपरिहार्य आवश्यकता नहीं है। ये एक क्रमविकासके परिणाम हैं; और विकासकी इस अवस्थामें मनने अपने अंदर यह आदत डाल ली है कि जडप्राकृतिक विश्वके साथ संबंध स्थापित करनेके साधारण साधनोंके रूपमें वह कतिपय शारीरिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंपर ही निर्भर करे। अतएव, यद्यपि प्रचलित नियम यही है कि जब हम बाह्य जगत्को जानना चाहते हैं तब हमें इस कामको अप्रत्यक्ष रूपसे, अर्थात् इंद्रियोंके मारफत ही करना पडता है और वस्तुओं तथा मनुष्योंके संबंधमें हम उतने ही सत्यका अनुभव कर सकते हैं जितना कि इंद्रियां हमतक पहुंचा देती हैं, तथापि यह नियम एक बंधी हुई जोरदार आदतके सिवा और कुछ नहीं है। मनके लिये यह संभव है—और उसके लिये यह एक स्वाभाविक बात होगी यदि उसको इस बातके लिये राजी कर लिया जाय कि उसने जडप्रकृतिकी अधीनताको जो स्वीकृति दे रखी है उससे अपने-आपको मुक्त कर ले—कि वह इंद्रियोंकी सहायताके बिना ही इंद्रियोंके विषयोंका प्रत्यक्ष बोध प्राप्त कर ले। संवेशन (Hypnosis) तथा उसी प्रकारकी अन्य मानसिक घटनाओंकी परीक्षामें यही होता है। चूंकि हमारी जाग्रत चेतना उस संतुलनके द्वारा नियंत्रित और सीमित है जिसे प्राण अपने विकासक्रममें मन और जडतत्त्वके बीच ले आता है, इसलिये यह प्रत्यक्ष ज्ञान हमारी साधारण जाग्रत अवस्थामें प्रायशः असंभव ही होता है; अतएव हमारे जाग्रत मनको एक प्रकारकी निद्रावस्थामें डालकर ही इस ज्ञानको लाना पडता है, क्योंकि यह निद्रावस्था हमारे सच्चे पर अधुनापि प्रच्छन्न मनको मुक्त कर देती है। मन तब अपने सच्चे स्वभावका, अर्थात् वह जो एकमात्र और स्वपर्याप्त इंद्रिय है उसका दावा करनेके योग्य हो जाता है और विषयोंपर अपनी मिश्रित और पराश्रित क्रियाके बदले अपनी विशुद्ध और स्वाश्रित क्रियाका प्रयोग करनेकी स्वतंत्रता प्राप्त करता है। न वृत्तिका यह विस्तार असंभव ही है, तब हां हमारी जाग्रत अवस्थामें यह एक अधिक कठिन कार्य अवश्य है; यह बात उन सभीको मालूम है जो मनोवैज्ञानिक परीक्षाके कतिपय मार्गोंका अनुसरण करते हुए यथेष्ट दूरीतक जा सके हैं।

जिन पांच इंद्रियोंका हम साधारणतया उपयोग करते हैं उनके अतिरिक्त अन्य इंद्रियोंको विकसित करनेके लिये भी इंद्रियाश्रित मनकी स्वाश्रित क्रियाका प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणके लिये यह संभव है कि हम एक ऐसी शक्तिको विकसित कर लें जो हमारे हाथमें उठायी हुई चीजका वजन, बिना किसी भौतिक साधनके, ठीक-ठीक बता दे। यहां स्पर्श और भारके बोधका प्रयोग केवल एक आरंभिक उपकरणके तौरपर ही किया जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विशुद्ध बुद्धि इंद्रियानुभवकी सूचनाओंका करती है, किंतु वास्तवमें मनको उस वस्तुका वजन बतानेवाली चीज उसकी स्पर्शेंद्रिय नहीं; उस वस्तुके ठीक वजनको वह अपने स्वतंत्र अनुभवके द्वारा जान पाता है और स्पर्शका प्रयोग तो वह केवल उस वस्तुके साथ संबंध स्थापित करनेके लिये करता है। और जैसा कि विशुद्ध बुद्धि करती है वैसे ही इंद्रियाश्रित मन भी इंद्रियानुभवका प्रयोग मात्र एक प्राथमिक स्थलके रूपमें कर सकता है, जहांसे वह उस ज्ञानकी ओर अग्रसर होता है जिसका इंद्रियोंसे कोई लेन-देन नहीं है और जो बहुधा उनकी गवाहीके विपरीत पडता है। न यही बात है कि वृत्तियोंका विस्तार केवल बहिर्भागों और उपरितलोंतक ही परिसीमित रहता हो। एक बार जहां हमने किसी बाह्य विषयके साथ किसी इंद्रियके माध्यमके द्वारा संबंध स्थापित कर लिया तो यह संभव है कि हम अपने मनका प्रयोग इस प्रकार करें कि हम उस विषयके भीतर क्या है इसको जान लें—

उदाहरणार्थ, हम दूसरोंके विचारों और अनुभवोंको, उनके कथन, हावभाव, क्रिया या मुखाकृतियोंकी सहायताके बिना ही, यहांतक कि इन सर्वदा आंशिक और बहुधा भ्रामक सूचनाओंके विपरीत पडते हुए भी, ग्रहण कर सकें और जान सकें। अन्तमें सूक्ष्म इंद्रियोंका उपयोग करनेके द्वारा, अर्थात् वे इंद्रिय-शक्तियां जैसी कि अपनी भौतिक क्रियासे पृथक् अपने आपमें, अपनी विशुद्ध मानसिक और सूक्ष्म कर्मण्यतामें हैं उनके उपयोगके द्वारा- क्योंकि इनकी भौतिक क्रिया तो बाह्य जीवनके कार्योंके लिये इनकी समग्र और सर्वसाधारण क्रियामेंसे एक चुनावमात्र है— हम ऐसे इंद्रियानुभवोंका, वस्तुओंके ऐसे दृश्य रूपों और मूर्तियोंका बोध करने लगते हैं जो हमारी जडप्राकृतिक परिस्थितिके संगठनके इंद्रियानुभवों, दृश्य रूपों, और मूर्तियोंसे भिन्न हैं। वृत्तिके इन सभी विस्तारोंको यद्यपि भौतिक मन दुविधा और अविश्वासके साथ ग्रहण करता है, क्योंकि हमारे साधारण जीवन और अनुभवकी अभ्यस्त योजनाके लिये वे असाधारण होते हैं, इनको कार्यमें उतारना कठिन होता है और इससे भी अधिक कठिन होता है इनको इस प्रकार विन्यस्त करना जिससे कि इनसे सुव्यवस्थित और उपयोगी यंत्रोंका काम किया जा सके, फिर भी इनको हमें स्वीकार करना होगा, क्योंकि हमारी बाह्यभावसे सक्रिय चेतनाके क्षेत्रको विस्तीर्ण करनेके किसी प्रयासके ये अनिवार्य फल हैं; फिर चाहे वह प्रयास किसी प्रकारकी अज्ञ चेष्टा तथा आकस्मिक दुर्व्यवस्थित प्रभावके द्वारा हो या किसी वैज्ञानिक और सुनियंत्रित साधनाके द्वारा हो।

तब इनमेंका कोई भी विस्तार हमें उस लक्ष्यतक नहीं पहुंचाता जिसे हमने अपने सामने रखा है, अर्थात् उन सत्योंका आंतरिक अनुभव करना जो अतींद्रिय पर बुद्धि-ग्राह्य हैं। ये तो हमें घटनाओंका एक विशालतर क्षेत्र और उनका निरीक्षण करनेके अधिक प्रभावशाली साधनमात्र देते हैं। वस्तुओंका सत्य सदा इंद्रियोंकी पहुंचके परे रहता है। फिर भी विश्व जीवनकी स्वयं बनावटमें ही यह सारगर्भित नियम अंतर्निहित है कि सत्य जहां बुद्धिग्राह्य हैं वहां इस बुद्धिको धारण किये हुए जो देहयंत्र है उसमें कहींपर कोई ऐसा साधन होना ही चाहिये जिसके द्वारा हम उनतक पहुंच सकें या अनुभवके द्वारा उन्हें जांच सकें। अस्तु। बुद्धिके अलावा जो एकमात्र साधन हमारे मनको प्राप्त है वह है तादात्म्य-ज्ञानके उस विशिष्ट रूपका विस्तार जो हमें अपने निजी अस्तित्वका बोध कराता है। वास्तवमें हमारे आत्मबोधपर ही, जो स्वल्पाधिक मात्रामें सचेतन हो, हमारी धारणाके सम्मुख स्वल्पाधिक मात्रामें वर्तमान हो, हमारे अन्दर क्या क्या वस्तुएं हैं इस बातका ज्ञान निर्भर करता है। अथवा इस बातको अधिक साधारण सूत्रके अन्दर लाकर यों कहें कि आधारके ज्ञानके अन्दर आधेयका ज्ञान निहित है। इसलिये यदि हम अपने मानसिक आत्म-बोधकी वृत्तिको हमसे परे और बाहर जो आत्मा या उपनिषदोंमें वर्णित सद् ब्रह्म है वहांतक आगे बढा के आंय तो हम उन सत्योंको अनुभवके द्वारा प्राप्त कर सकेंगे जो आत्मा या विश्वव्यापी ब्रह्ममें आधेय रूपसे हैं। भारतीय वेदांतने इसी संभावनाको अपना आधार बनाया है। उसने आत्माके ज्ञानके द्वारा विश्वके ज्ञानको खोजा है।

परन्तु वेदांतने सदा ही यह माना है कि मानसिक अनुभव तथा बुद्धिकी धारणाएं, अपनी उच्चतम अवस्थामें भी, मानसिक तादात्म्यके अन्दर वस्तुओंके सत्यके प्रतिबिंब हैं, न कि परम स्वयंभू तादात्म्य। हमें मन और बुद्धिके परे जाना ही होगा। हमारी जाग्रत चेतनाके अन्दर क्रियाशील जो बुद्धि है वह तो सर्व ब्रह्मके दो पदोंके बीच एक माध्यममात्र है— एक वह जो अवचेतन सर्व है जहांसे हम अपने ऊर्ध्वमुखी विकासमें आते हैं और दूसरा वह जो अतिचेतन सर्व है जिसकी ओर हम इस विकासके द्वारा प्रेरित होते हैं। अवचेतना उस एक ही सर्वब्रह्मके दो रूप हैं। अवचेतनाकी मुख्य बात है प्राण और अतिचेतनाकी मुख्य बात है प्रकाश। अवचेतनामें ज्ञान या चैतन्य कर्ममें प्रच्छन्न भावसे समाया हुआ रहता है, क्योंकि कर्म ही जीवनका सार है। अतिचेतनामें कर्म प्रकाशमें पुनः प्रविष्ट होता है और अब वह किसी प्रच्छन्न ज्ञानको धारण किये हुए नहीं होता, बल्कि स्वयं ही परम चैतन्यके अंतर्भुक्त रहता है। इन दोनोंमें ही जो समान वस्तु है वह है अंतः-स्फुरित ज्ञान, और अंतःस्फुरित ज्ञानकी नींव है ज्ञाता और ज्ञेयमें सचेतन या प्रकृत तादात्म्य; आत्माभिव्यक्तिकी यह वह साधारण अवस्था है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय ज्ञानके द्वारा एक रहते हैं। परन्तु अवचेतनामें जो स्फुरित ज्ञान है

वह अपने-आपको कर्ममें, कार्यक्षमतामें प्रकट करता है तथा ज्ञान या सचेतन तादात्म्य पूर्णमात्रामें या अल्पाधिक मात्रामें कर्ममें छिपा रहता है। दूसरी ओर, अति चेतनामें -प्रकाश ही वहांका धर्म और तत्त्व होनेके कारण- अंतः-स्फुरणा अपने सत्य स्वभावमें, अर्थात् सचेतन तादात्म्यसे उदित होते हुए ज्ञानके रूपमें अपने-आपको प्रकट करती है और कार्यशक्ति, यों कहें कि, उसके साथ लगी रहती या उसका आवश्यक परिणाम होती है और अब अपनेको प्रधान तथ्य कहनेका झूठा दावा नहीं करती। इन दो पदोंके बीच बुद्धि और मन माध्यमके रूपमें कार्य करते हैं जिससे सत्ताके लिये यह संभव होता है कि वह ज्ञानको कार्यके बंधनसे मुक्त कर दे और इस बातके लिये तैयार कर दे कि वह अपनी मूलगत प्रधानताको फिरसे पा ले। जब आधार और आधेयपर, अपने-आपपर और दूसरोंपर प्रयुक्त जो मनका आत्मबोध है वह प्रकाशमान स्वप्रकट तदैक्यमें उन्नत हो जाता है तब बुद्धिका भी स्वप्रकाश अंतःस्फुरित× ज्ञानके रूपमें धर्मांतर हो जाता है। हमारे ज्ञानकी यही उच्चतम संभाव्य अवस्था है और यह तब प्राप्त होती है जब मन अपने-आपको अति मानसमें परिपूर्ण करता है।

सो ऐसी है मनुष्यके बौद्धिक ज्ञानकी योजना जिसके आधारपर ही अति प्राचीन वेदांतके निर्णय प्रस्थापित हुए थे। इस आधारका आश्रय लेकर प्राचीन ऋषि-मुनियोंने जो परिणाम निकाले थे उन्हें और आगे बढ़ा ले जाना मेरा उद्देश्य नहीं है, किन्तु यह आवश्यक है कि उनके कतिपय उन मुख्य सिद्धांतोंकी उतनीसी संक्षिप्त चर्चा कर दी जाय जितना कि वे दिव्य जीवनकी समस्यासे संबंध रखते हैं, क्योंकि हमारा सरोकार यहां दिव्य जीवनकी समस्यासे ही है। कारण, उन्हीं मानवताओंके अंदर हमें उस भवनकी सर्वोत्तम पहलेकी रची हुई नींव मिलेगी जिसका अब हम पुनर्निर्माण करना चाहते हैं और यद्यपि, सभी ज्ञानोंकी भांति, प्राचीन भावव्यंजनाकी जगह, किसी हदतक, ऐसी नवीन भावव्यंजनाको ला बैठाना होगा जो उत्तरकालीन मनोवृत्तिके अनुकूल पड़ती हो तथा प्राचीन प्रकाशको इसी प्रकार नवीन प्रकाशमें समा जाना होगा जिस प्रकार एक उषाके बाद दूसरी उषाका उदय होता रहता है, फिर भी प्राचीन संपत्तिको ही अथवा उसमेंसे जितनीका हम पुनरुद्धार कर सकें उतनीको ही अपना मूलधन बनाकर हम चिर अपरिवर्तनीय तथा चिरपरिवर्तनशील अनंतके साथ अपने नवीन व्यापारकी बृहत्तम कमाईका संग्रह करनेमें सुविधापूर्वक अग्रसर हो सकेंगे।

विश्वके संबंधमें वेदांतिक विश्लेषणकी दृष्टि जिस अंतिम धारणाको प्राप्त होती है वह है एक सद्ब्रह्म, अर्थात् विशुद्ध अवर्णनीय, अनंत, केवल सत्, यही वह मूलगत सद्वस्तु है जिसे वेदांतिक अनुभवसे उन सब गतियों और रूपोंके पीछे पाया है जो कि हमारे लिये प्रकट सद्वस्तु है। यह स्पष्ट है कि अब हम इस धारणाको अपना लेते हैं तब हम उन सब चीजोंके परे चले जाते हैं जिन्हें हमारी साधारण चेतना, हमारी साधारण अनुभूति अपने अंदर धारण किये हुए है या सत्य मानती है। इंद्रियां और इंद्रियाश्रित मन किसी विशुद्ध या निर्विशेष अस्तित्वके बारेमें कुछ भी नहीं जानते। इंद्रियानुभव हमें केवल रूप और गतिका ही बोध कराता है। रूप हैं, किंतु उनका अस्तित्व विशुद्ध नहीं है, बल्कि यों कहें कि वह सदा ही संमिश्रित, संयुक्त और आपेक्षिक है। जब हम अपने अंदर प्रवेश करते हैं तब हम सुस्पष्ट रूपोंसे तो छुटकारा पा जाते हैं, किंतु गतिसे, परि-वर्तनसे छुटकारा नहीं पाते। देशके अंतर्गत जड़प्रकृतिकी गति, कालके अंदर परिवर्तनकी गति, ऐसा मालूम होता है कि, यही जीवनकी शर्त है। अवश्य ही, हम चाहें तो यह कह सकते हैं कि जीवन तो यही है और यह कि स्वयंभू सत्ताकी मानवताका किसी ऐसी वास्तविकतासे मेल नहीं

× अंतःस्फुरणा, सहजस्फुरणा या अंतर्ज्ञान हम अंग्रेजीके Intuition शब्दके लिये प्रयोग करते हैं। मूल पुस्तकमें इस शब्दके नीचे श्री अरविन्दने एक नोट लिखा है जिसका आशय इस प्रकार है:—

मैंने Intuition शब्दका प्रयोग इससे अच्छे शब्दके अभावमें ही किया है। सच तो यह है कि यह एक काम-चलाऊ शब्द है और वांछित भावको प्रकट करनेके लिये अपर्याप्त है। यही बात Consciousness (चेतना या चैतन्य) तथा बहुतसे दूसरे शब्दोंके विषयमें भी कहनी पड़ती है जिनके अर्थको हमें अपने दारिद्र्यके वश अवैध रूपसे बढ़ा-चढ़ा देना होता है।

खाता जिसे हम यहां खोजकर पा लें। अधिकसे अधिक यह होता है कि मानसिक चरम-बोधकी क्रियामें या उसके पीछे, कभी-कभी हमें किसी अचल, अक्षर वस्तुकी झांकियां होती हैं, हमें कुछ ऐसी अस्पष्ट अनुभूति या कल्पना होती है कि हम समस्त जीवन और मृत्युसे, समस्त परिवर्तन, रूपायन और कर्मसे परे वही वस्तु हैं। यहां हमारे अंदर एक ऐसा द्वार है जो किसी परतर सत्यकी ज्योति गरिमामें कभी-कभी खुल पडता है और वापस बंद होनेके पहले उस ज्योतिकी एक किरणको हमारा स्पर्श करने देता है— यह एक आज्वल्य सूचना होती है जिसे हम, यदि हममें शक्ति और दृढता है तो अपनी श्रद्धामें पकड कर रख सकते हैं और इंद्रियाश्रित मनकी क्रीडाके स्थानपर किसी दूसरी ही चेतनाकी क्रीडाका, अर्थात् अंतःस्फुरणाकी क्रीडाका आरंभिक स्थल बना सकते हैं।

क्योंकि यदि हम बारीकीके साथ जांच करें तो हमें पता लगेगा कि अंतःस्फुरणा ही हमारी पहली शिक्षयित्री है। अंतःस्फुरणा सदा ही हमारी मानसिक क्रियाओंके पीछे परदेकी आडमें रहती है। अंतःस्फुरणा अज्ञेयके उन उज्वल संदेशोंको मनुष्य तक पहुंचाती है जिनसे उसके उच्चतर ज्ञानका प्रारंभ होता है। बुद्धि तो केवल बादमें ही आती है यह देखनेके लिये कि इस प्रकाशमान प्राप्तिसे उसे क्या लाभ मिल सकता है। अंतःस्फुरण हमें हम जो कुछ जानते या दिखायी देते हैं उसके पीछे और परेकी उस किसी वस्तुकी धारणा कराती है और यह धारणा सदा मनुष्यकी निम्नतर बुद्धिका तथा उसके समस्त साधारण अनुभवोंका प्रत्याख्यान कर उसका अनुसरण करती है और उसे इस बातके लिये प्रेरित करती है कि वह अपने निराकार अनुभवको अधिक भावात्मक भावनाओंमें रूपान्वित करे—अर्थात् ईश्वर-अमृतत्व, स्वर्ग और वे सब भावनाएं जिनके द्वारा हम उसे मनके सामने व्यक्त करनेकी चेष्टा करते हैं। क्योंकि अंतःस्फुरणा उतनी ही बलवती है जितनी की स्वयं प्रकृति; यह प्रकृतिके आत्मासे ही निकली है और बुद्धिके विरोधों और अनुभवके इनकारोंकी जरा भी परवा नहीं करती। जिस वस्तुका अस्तित्व है उसको यह जानती है, क्योंकि यह स्वयं उसीकी है, उससे आयी है और जो कुछ केवल भूतभाव या दृश्यरूप है उसके निर्णयके अधीन उसको नहीं होने देती। अंतःस्फुरणा हमें जिसका बोध कराती है वह बोध अस्तित्वका उतना नहीं होता जितना कि जिसका अस्तित्व है उसका, अर्थात् सत्ताका, क्योंकि यह हमारे अंदर प्रकाशक जो एक बिंदु है उसीमेंसे, हमारे आत्मबोधमें कभी-कभी खुले हुए उस द्वारसे, जिसका जिक्र ऊपर आया है निर्गत होती है और इसीलिये इसको अपने बोधकी निर्मूलताके बारेमें विशेष सुविधा प्राप्त है। प्राचीन वेदांतने अंतःस्फुरणाके इस संदेशको दृढतापूर्वक ग्रहण किया था और उसे उपनिषदोंके तीन महावाक्योंमें व्यक्त किया था—'सोऽहं (मैं वह हूं),' 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो (हे श्वेतकेतु तू वह है)' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह सब कुछ ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म है)।'

परंतु अंतःस्फुरणाकी जो क्रिया मनुष्यमें होती है उसका स्वभाव चूंकि परदेके पीछेसे और खासकर मनुष्यके प्रायशः अप्रबुद्ध और स्वल्प विकसित अंगोंमें काम करना है और चूंकि परदेके बाहर उसका काम हमारी जाग्रत चेतनाके सकीर्ण प्रकाशमें उन मंत्रोंद्वारा होता है जो उसके संदेशोंको पूर्ण रूपसे आत्मसात् करनेमें अक्षम है, इसलिये अंतःस्फुरणा हमें सत्योंको उस व्यवस्थित और सुव्यक्त रूपमें नहीं दे सकती जैसा कि हमारी प्रकृति चाहती है। प्रत्यक्ष ज्ञानकी किसी ऐसी पूर्णताको सिद्ध करनेके पहले अंतःस्फुरणाको खुद ही हमारे आधारके ऊपरी तहमें संगठित होना चाहिये और वहांके प्रमुख कार्यको अपने अधिकारमें लाना होगा। पर हमारे आधारके ऊपरी तहमें संगठित जो चीज है, जो हमारे अनुभवों, विचारों और क्रियाओंके व्यवस्थापनमें सहायता करती है वह अंतःस्फुरणा नहीं, बल्कि बुद्धि है। इसीलिये अंतःस्फुरित ज्ञानके काल—जिसका परिचय हमें उपनिषदोंके प्राचीन वैदांतिक चिन्तनमें मिलता है—के स्थानपर बौद्धिक ज्ञानका काल आया; अनुप्रेरित शास्त्रोंकी जगह बौद्धिक दर्शनशास्त्रोंने ली, यहांतक कि, जैसा कि बादमें हुआ, बौद्धिक दर्शनशास्त्रोंकी जगहको भी परीक्षात्मक जडविज्ञानने दखल कर लिया। अंतःस्फुरित चिंता जो कि अतिचेतन सत्ताकी संदेशवाहिका है और इस कारण हमारी उच्चतम वृत्ति है-का स्थान विशुद्ध बुद्धिने ले लिया, जो केवल एक प्रकारकी सहकारिणी है तथा हमारी सत्ताकी मझली ऊंचाईकी है; और तब विशुद्ध बुद्धिकी बारी आयी और कुछ कालके लिये इसके

स्थानको भी उस बुद्धिकी मिश्रित क्रियाने ले लिया जो हमारी चेतनाके समतल क्षेत्रों तथा निम्नतर ऊंचाइयोंपर रहती है और जिसकी दृष्टि अनुभवके उस आकाशशृंगका अतिक्रमण नहीं करती जिसे भौतिक मन और इंद्रियां या वह सब कुछ जिसका हम इंद्रियोंकी मददके लिये आविष्करण करते हैं, हमें देते हैं। और यह प्रक्रिया जो देखनेमें एक अवतरणसी लगती है, वास्तवमें प्रगतिकी ही एक वर्तुल गति है। क्योंकि प्रत्येक अवतरणमें निम्नतर वृत्तिको बाध्य होना पडता है कि वह उच्चतर वृत्तिके द्वारा की गयी वस्तुके उतनेसे अंशको अपने अंदर ले ले जितना कि वह पचा सकती हो और फिर अपनी पद्धतियोंके अनुसार पुनःस्थापित करनेकी चेष्टा करे। इस प्रयासके द्वारा उसका अपना कार्यक्षेत्र परिवर्धित हो जाता है और अंतमें वह उच्चतर वृत्तियोंके साथ एक नमनीयतर और प्रचुरतर समस्वरताको प्राप्त हो जाती है। विकासकी यह क्रमिक धारा यदि न होती तथा प्रत्येक वृत्ति उच्चतर वृत्तियोंके धर्मोंको आत्मसात् करनेकी यदि इस प्रकार पृथक्-पृथक् चेष्टा न करती तो इसका आवश्यक परिणाम यह होता कि हम अपनी प्रकृतिके एक भागके ही सर्वथा अधीन बने रहते और बाकीके भाग या तो उभडने नहीं पाते और अनावश्यक रूपसे पराधीन अवस्थामें पडे रह जाते या उनका क्षेत्र ही अलग रह जाता और फलतः उनका विकास बहुत ही कम हो पाता। परंतु इस धारा और इस प्रयत्नके द्वारा एक-दूसरी वृत्तियोंके बीचके तारतम्यमें एक संतुलन हमारे ज्ञानांगोंमें एक पूर्णतर सामंजस्य आ जाता है।

इस धाराको हम उपनिषदों और तत्परवर्ती भारतीय दर्शन शास्त्रोंमें देख पाते हैं। वेद और वेदांतके द्रष्टा ऋषि अंतःस्फुरणा और आध्यात्मिक अनुभवपर ही पूर्णतया निर्भर करते थे। वे पंडित लोग भूल ही करते हैं जो कभी-कभी यह कह बैठते हैं कि उपनिषदोंमें बडे-बडे वाद-विवाद और शास्त्रार्थ भरे पडे हैं। जहां कहीं भी विवादग्रस्त विषयका प्रसंग सा आया है वहीं उपनिषद् शास्त्रार्थके द्वारा तर्कवितर्कके द्वारा या युक्तिके प्रयोगके द्वारा नहीं, बल्कि विभिन्न अंतःस्फुरणाओं और अनुभवोंकी तुलना करनेके द्वारा अग्रसर हुए हैं जिसमें स्वल्प प्रकाशमय अंतःस्फुरणाएं और अनुभूतियां अधिक प्रकाशमयके आगे, संकीर्णतर सदोष या अल्पसारगर्भित विशालतर पूर्णतर और अधिक सारगर्भितके आगे नत हो गयी हैं। वहां एक मुनि दूसरेसे प्रश्न करते हैं "भगवन्! अमुक विषयमें आपको क्या विदित है?" न कि 'अमुक विषयमें आपका क्या मत है, न यही कि 'अमुक विषयमें आपकी बुद्धि किस निर्णय-को प्राप्त हुई है!' उपनिषदोंमें इस प्रकारका कोई चिह्न नहीं मिलता कि वेदांतिक सत्योंके समर्थनमें युक्तिका आश्रय लेनेको कहा गया हो। ऐसा जान पडता है कि अंतःस्फुरणाकी कमी किसी पूर्णतर अंतःस्फुरणाके द्वारा ही पूरी की जा सकती है; युक्तिको उसके विचारकका स्थान नहीं दिया जा सकता।

यह होते हुए भी मनुष्यकी बुद्धिकी यह मांग है कि उसका संतोष उसकी अपनी पद्धतिसे ही हो। इसलिये जब बौद्धिक चिंतनका काल आया तब भारतीय दार्शनिकोंने, जो अतीत कालके विरासतमें मिली हुई संपत्तिके प्रति श्रद्धा रखते थे, सत्य संबंधी अपनी शोधमें दोहरा रुख रखा। उन्होंने अंतःस्फुरणाके प्राचीन फलस्वरूप श्रुति अर्थात् वेदको—और वे अंतःस्फुरणको श्रुति कहना ही अधिक पसंद करते थे—बुद्धिकी अपेक्षा श्रेष्ठ प्रमाण माना। पर फिर भी उन्होंने बुद्धिसे ही आरंभ किया और उसके निर्णयोंकी खूब छानबीन की, किंतु अंतमें केवल उन्हीं निर्णयोंको माना जिनका समर्थन इस परम प्रामाणिक श्रुतिमें मिला। इस प्रकार वे बौद्धिक दर्शनशास्त्रोंके आकीर्णकर दोषसे अर्थात् वादलोंमें संघर्ष करनेकी प्रवृत्तिसे किसी हदतक बच गये, क्योंकि बौद्धिक दर्शन शब्दोंको इस प्रकार लेते हैं मानो वे ही प्रामाणिक तथ्य हों, पर वे प्रतीक नहीं जिनका सदा सावधानीके साथ निरीक्षण करना होगा और जिनको सदा उसके मर्ममें लौटा लाना होगा जिसको वे प्रतिभात करते हैं। आरंभमें उनको चिंताधाराएं अपने केंद्रमें उच्चतम और गंभीरतम अनुभवके आसपास बनी रहीं और बुद्धि और अंतःस्फुरण इन दो प्रामाणिक वृत्तियोंकी सम्मतिको लेकर ही अग्रसर हुईं। परंतु अंतिम परिणाम यह हुआ कि अपनी श्रेष्ठताको स्थापित करनेकी बुद्धिकी स्वभाविक झोंकने अपनी हीनताकी परिकल्पनापर विजय पायी। इसीसे परस्पर-विरोधी संप्रदाय निकल पडे और प्रत्येक संप्रदायने एक ओर तो परिकल्पनात्मक रूपसे वेदको अपना

आधार बनाया तथा दूसरी ओर उसकी ऋचाओंका प्रयोग एक दूसरेके संबंधमें अच्छ-उलके तौरपर किया। इसका कारण यह है कि उच्चतम अंतःस्फुरित ज्ञान वस्तुओंको उनकी अखंडतामें, उनकी विशालतामें देखता है और ब्योरोंको तो वह उस अविभाज्य अखंडताकी दिशाएं मात्र जानता है; उसकी रुचि ज्ञानके आसन्न समन्वय और ऐक्यकी ओर रहती है। परंतु बुद्धि विश्लेषण और विभाजन को लेकर ही चलती है और अपने तथ्योंको वह इसलिये बटोरकर जमा करती है कि उससे वह किसी समग्रताकी रचना कर सके, किंतु इस जमा किये हुए समूहमें विरोध, वैपरीत्य और असंबद्धता रह जाती है और बुद्धिकी स्वाभाविक रुचि होती है इन तथ्योंमेंसे कुछको स्वीकार करना और जो तथ्य उसके चुने हुए निर्णयोंके विपरीत पडते हों उनको अस्वीकार करना; जिससे कि वह किसी निर्दोष यौक्तिक शास्त्रकी स्थापना कर सके। इस प्रकार प्राचीन अंतःस्फुरित ज्ञानकी एकता खंडित हो गयी और तार्किकोंके बुद्धिचातुर्यने सदा ऐसे उपायों, भाष्य-प्रणालियों और विभिन्न मूल्यात्मक मानदंडोंका आविष्कार किया जिसके द्वारा वेद-वेदांतके उन मंत्रोंको, जिनका उनके मतानुसार अर्थ करना कठिन मालूम हुआ करीब-करीब रद कर दिया गया तथा इस प्रकार उन्हें अपने दार्शनिक चिंतनके लिये स्वतंत्रता मिल गयी।

फिर भी इस विभिन्न बौद्धिक दर्शनशास्त्रोंमें प्राचीन वेदांतकी प्रधान धारणाएं अंशतः बनी रहीं और समय-समय पर इस प्रकारकी चेष्टा भी होती रही कि इन धारणाओंको प्राचीन औदार्य तथा अंतःस्फुरित भावनाके ऐक्यकी किसी प्रतिमामें फिरसे संश्लिष्ट किया जाय। और इन सभी शास्त्रोंकी भावना—जो भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपस्थित की गयी है—के पश्चाद्‌भागमें पुरुष, आत्मा सद्ब्रह्मका, जिसे उपनिषदोंने शुद्ध सत् कहा है, अस्तित्व मूल धारणाके रूपमें बना रहा, और यद्यपि बहुधन तर्कके सांचेमें ढालकर उसे किसी मानसिक भावना या अवस्थाका रस दे दिया गया है फिर भी इसमें अकथनीय सद्वस्तुकी प्राचीन भावना अंतःसलिला फल्गुकी भांति सदा बहती रही। संभूतिकी गति, जिसको हम जगत् कहते हैं, का निरपेक्ष एकत्वके साथ क्या संबंध है; अहंकार फिर चाहे वह उस गतिसे पैदा हुआ हो या उसका कारण, किस प्रकार वेदांत घोषित आत्मा, परमात्मा या सद्वस्तुको पुनःप्राप्त हो सकता है— ये ही वे यौक्तिक और व्यावहारिक प्रश्न हैं जिनका भारतीय चिंतनपर सदा अधिकार रहा है।

अध्याय ९

शुद्ध सत्

सदेव... एकमेवाद्वितीयम्... ॥ छांदोग्य उपनिषद् ६।२।१

एक, अविभाज्य वही शुद्ध सत् है।

जब हम परिमित और क्षणस्थायी व्यापारोंमें रस ले रही अपनी अहमात्मक दृष्टिको वहांसे हटा लेते और जगत्को उन धीर स्थिर जिज्ञासु चक्षुओंसे देखते हैं जो केवल सत्यकी ही शोध कर रहे हैं तब इसका प्रथम परिणाम यह होता है कि हमें अनंत सत्की अनंत गतिकी, अनंतकर्मण्यताकी एक ऐसी असीम क्रियाशक्तिका अनुभव होता है जो अपने-आपको अपरिच्छिन्न देशमें, शाश्वत कालमें ढालती हुई चली आ रही है; यह वह सत् है जो हमारे अहंकार या किसी अहंकार या समस्त अहंकारोंकी समष्टिसे अनंतगुना बडा है और जिसकी बराबरीमें युगोंकी बडी बडी उपज एक क्षणकी धूलके समान है तथा जिसकी अपरिमेय समग्रताके आगे असंख्य सहस्रोंका समूह एक क्षुद्र झुंडके जैसा है। सहज प्रेरणाके वश हम इस प्रकार कर्म करते, इस प्रकार बोध करते और अपने जीवनसंबंधी विचारोंको इस प्रकार बनाते रहते हैं मानो यह विशाल जगद्गति हमारे लाभके लिये, हमारी सहायता या हानिके लिये एक केन्द्रके रूपमें हमें घेरकर कर्ममें प्रवृत्त है अथवा हमारी अहंभावी लालसाओं, उमंगों, भावनाओं और मानदंडोंके औचित्यको ठहराना उसका ठीक वैसा ही अपना काम है जैसा कि उसमें व्याप्त रहता हमारा अपना प्रधान काम होता है।

पर, अब हमारी आँखें खुलती हैं और हम देखना आरंभ करते हैं तो हमें दिखायी देता है कि वह केवल अपने लिये ही है, हमारे लिये नहीं; उसके अपने विराट् लक्ष्य हैं, उसकी अपनी जटिल और असीम भावना है, उसकी अपनी विशाल इच्छा या आनंद है जिसे वह सफल करना चाहती है, उसके अपने अमित और दारुण मानदंड हैं जो हमारे अपने मानदंडोंकी क्षुद्रताकी व्यंगभरी मीठी हंसी उड़ाते हैं। परंतु फिर भी हमें एक छोरसे झूलकर सर्वथा दूसरे छोरपर चले जाना नहीं चाहिये और हमारी अपनी तुच्छताके विषयमें कोई अति निश्चित धारणा नहीं बांध लेनी चाहिये। ऐसा करना भी एक अज्ञानकी क्रिया ही होगी और विश्वके महान् तथ्योंकी ओरसे अपनी आंखोंको बंद कर लेना होगा।

क्योंकि यह असीम गति यह नहीं समझती कि हमारा इसके लिये कोई महत्व ही नहीं है। सायंस हमें यह बताता है कि किस प्रकार वह जैसे अपने बड़े-से-बड़े कार्योंकी वैसे ही अपने छोटे-से-छोटे कार्योंकी बारीकीके साथ संभाल रखती, सुघड़ताके साथ बैठाती और प्रगाढ़ तल्लीनताके साथ उनमें लगी रहती है। यह प्रचंड क्रियाशक्ति सब किसीकी सम और निष्पक्ष माता, गीताके महान् शब्दोंमें 'समंब्रह्म' है और इसकी गतिकी प्रबलता और शक्ति समान भावसे रहती है, जैसे सौरमंडलकी रचना करने और उन्हें धारण किये रहनेमें वैसे ही एक बल्मीकके जीवनको संगठित करनेमें। जो चीज हमें यह समझाती है कि एकको हम विशाल मानें और दूसरेको क्षुद्र वह है आकारकी, परिमाणकी माया। पर यदि हम परिमाणके ढेरको नहीं बल्कि गुणकी शक्तिको देखें तो हमें कहना पड़ेगा कि सौरमंडलकी अपेक्षा उसमें बसनेवाली चींटियां ही श्रेष्ठ हैं और समस्त अचेतन प्रकृतिको एक साथ रखनेपर भी मनुष्य उससे श्रेष्ठ है। परंतु यह भी गुणकी माया ही है। जब हम ऊपरी तहके पीछे जाकर केवल गतिकी उस प्रगाढ़ताकी परीक्षा करते हैं, गुण और परिमाण जिसके दो पहलू हैं, तो हमें यह अनुभव होता है कि ब्रह्म समस्त अस्तित्वमें समान भावसे व्याप्त है। उसकी सत्ता सब किसीमें समान होनेके कारण हमारा यह कहनेको जी चाहता है कि उसकी शक्ति सब किसीमें समान भावसे बंटी हुई है। पर यह भी परिणामकी माया ही है। अविभाज्य तथापि विभाजित और वितरितसा निवास है ब्रह्मका सब किसीमें। फिर यदि हम सूक्ष्म निरीक्षणकारी दृष्टिसे देखें जो बौद्धिक धारणाके वश न हो बल्कि अंतःस्फुरणसे अनुप्राणित होकर तादात्म्यलब्ध ज्ञानमें पर्यवसित होती हो तो हमें दिखायी देगा कि इस अनंत क्रियाशक्तिकी चेतना हमारी मानसिक चेतनासे भिन्न है, यह अविभाज्य है और यह कि सौरमंडल तथा बल्मीकको यह अपने-आपके किसी समान अंशको ही नहीं बल्कि दोनोंको एक ही साथ स्वयं अपने-आपको संपूर्ण रूपसे देती रहती है। ब्रह्मके आगे न तो कोई समग्रता है न कोई अंश, बल्कि प्रत्येक वस्तु स्वयं पूर्ण है और ब्रह्मकी समग्रतासे लाभ उठाती है। गुण और परिमाणोंमें भेद है, आत्मा सम है। कर्मकी शक्तिके रूप, प्रकार और परिणाम अनगिनत भांतिके होते हैं, किंतु यह शाश्वत, आदि, अनंत शक्ति एक है और सब किसीमें वही है। बलदायिका शक्ति, जो बलवान् मनुष्यकी रचना करती है उस दुर्बलकारिणी शक्तिसे, जो दुर्बल मनुष्यको गढ़ती है, तिनकेभर भी बड़ी नहीं है। दमनमें खर्च होनेवाली शक्ति उतनी ही बड़ी है जितनी कि व्यंजनामें, उतनी ही बड़ी इनकारमें है जितनी कि स्वीकारमें, उतनी ही बड़ी नीरवतामें है जितनी कि नादमें।

इसलिये सबसे पहले हमें उस लेखेको ठीक कर लेना होगा जो कि हमने अपने-आपके और इस अनंतगतिके, सत्‌की इस क्रियाशक्तिके— जो कि यह जगत् है— बीच लगा रखा है। '*सर्वंखल्विदंब्रह्म*' के लिये हम अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, किंतु हमारे लिये यह 'सर्वंखल्विदंब्रह्म' उपेक्षणीय है, अपने सामने हम केवल अपना ही महत्व रखते हैं। यही चिह्न है उस मौलिक अज्ञानका, जो अहंकारकी जड़ है, कि वह अपने-आपको ही केंद्रस्वरूप मानता है, मानो वही सर्व ब्रह्म हो और जो कुछ उसका अपना नहीं है उसके विषयमें वह केवल उतनासा ही स्वीकार करता है जितना कि उसकी मनोवृत्तिकी मरजी होती या उसको परिस्थितिके घात-प्रतिघात उसे पहचाननेके लिये मजबूर करते हैं। अहंकार जब दार्शनिककी तरह बातें करने लगता है तब भी क्या वह इस बातपर जोर नहीं देता कि यह जगत् केवल उसीकी चेतनामें और उसीके द्वारा स्थित है?

उसके लिये वस्तुकी सत्यताकी पहचान है उसकी अपनी चेतनाकी अवस्था या उसके अपने मानसिक मानदंड जो कुछ उसके अपने घेरे और दृष्टिसे बाहर है उसको वह या तो मिथ्या या अस्तित्व विहीन मानने लगता है। मनुष्यकी इस मानसिक स्वपर्याप्तिका यह फल होता है कि वह गलत हिसाब रखने लगता है और जीवनसे अपनी उचित और पूरी रकम वसूल नहीं कर पाता। एक अर्थमें मानव-मन और अहंकारके ये दावे एक सत्यपर खडे दिखायी देते हैं, किंतु यह सत्य तभी प्रकाशमें आता है जब मनको उसकी अज्ञानताका पता लग जाता है और अहंकार 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' की शरणमें जाकर अपनी पृथक् आत्म-स्थापनाको उसके अंदर गंवा देता है। इस बातको हृदयंगम करना कि हम, या यों कहें कि परिणामों और रूपोंसे बने हुए हमारे व्यक्तित्व, इस अनंत गतिकी एक आंशिक गतिमात्र हैं और यह कि इस अनंतको हमें जानना होगा, हमें सचेतन रूपसे वही हो जाना होगा, उसे पूरा-पूरा चरितार्थ करना होगा— यही सत्य-जीवनका आरंभ है। इस बातको हृदयंगम करना कि अपने सत्य स्वभावमें हम इस समग्र गतिके साथ एक हैं न कि गौण या सहकारी दूसरी दिशा है और सत्य या दिव्य जीवनकी पूर्णताके लिये यह आवश्यक है कि हमारी सत्ताकी चिंता, उमंग और क्रियामें इसकी व्यंजना हो।

परन्तु इस हिसाबको तय करनेके लिये हमें यह जान लेना होगा कि यह 'सर्वंखल्विदंब्रह्म' यह अनंत और सर्व शक्तिमती क्रियाशक्ति क्या चीज है। और यहां एक नयी जटिलता उपस्थित होती है। क्योंकि विशुद्ध बुद्धिने इस बातपर जोर दिया है और ऐसा दीखता है कि वेदांतने भी हमारे लिये यह प्रतिपादित किया है कि जैसे हम इस गतिके आधीन और इसके एक पहलू हैं, वैसे ही स्वयं यह गति भी अपने-आपके अतिरिक्त किसी दूसरी ही वस्तुके अधीन है उसका एक पहलू है उस वस्तुके जो देशकालातीत एक महान् स्थाणु है, अपरिवर्तनीय है, अविनाशी है, अव्यय है। जो स्वयं कर्म नहीं करती यद्यपि समस्त कर्मण्यताको धारण किये रहती है, जो क्रियाशक्ति नहीं, बल्कि शुद्ध सत् है। जो लोग केवल इस जागतिक क्रियाशक्तिको ही देखते हैं वे अवश्य ही ऐसी घोषणा कर सकते हैं कि शुद्ध सत् जैसी कोई चीज नहीं है और यह कि शाश्वत स्थाणु और अक्षर शुद्ध सत् संबंधी हमारी भावना हमारी बौद्धिक धारणाओंकी कल्पनामात्र है, जिसका आरंभ स्थाणु विषयक किसी मिथ्या भावनासे होता है; क्योंकि कुछ भी स्थितिशील नहीं है, सब कुछ गति ही गति है और स्थाणु-की धारणा हमारी मानसिक चेतनाका एक कौशल मात्र है जिसके द्वारा हमें एक ऐसा दृष्टिकोण मिल जाता है जहांसे हम गतिके साथ व्यावहारिक रूपसे बरत सकें। यह प्रमाणित कर देना सहज है कि यह बात ठीक है; किन्तु केवल तभी जब हम गति ही की बात कर रहे हों। गतिमें ऐसी कोई चीज ही नहीं जो स्थाणु है। जो कुछ अचलसा दिखायी देता है वह तो गतिके प्रवाहका एक टुकडामात्र, कर्मरत क्रियाशक्तिका एक रूपायनमात्र है, जो हमारी चेतनापर इस प्रकारका प्रभाव डालता है कि उसको वह अचलसा दिखायी दे, यह बात कुछ-कुछ वैसी ही है जैसी कि पृथिवी हमें अचल दिखायी देती है या वैसी कि कभी-कभी रेलमें सफर करते हुए हम यह बोध करने लगते हैं कि गाडी तो एक स्थलपर खडी है और धरती पीछेकी ओर भागी जा रही है। परन्तु यह भी क्या उतना ही सत्य है कि इस गतिके भीतर इसको धारण करनेवाली ऐसी कोई चीज नहीं जो स्वयं गतिहीन है, अक्षर है। क्या यह बात सच है कि अस्तित्व क्रियाशक्तिका कर्ममात्र ही है? अथवा क्या यह कहना सच नहीं है कि क्रियाशक्ति सत्से ही निकली है?

अब यह बात तुरंत सामने आती है कि इस तरहका कोई सत् यदि है तो वह, क्रियाशक्तिकी ही तरह, अनंत है। न बुद्धि, न अनुभव, न अंतःप्रेरणा, न कल्पना, कोई भी किसी अंतिम सीमाकी साक्षी नहीं देते। जहां कहीं अंत और आरंभ है वहीं इस बातका अनुमान समाया हुआ है कि इस अंत या आरंभके परे कोई वस्तु है। किसी चरम अंत, किसी चरम आरंभका प्रतिपादन करना शब्दोंका विरोध करना ही नहीं, बल्कि वस्तुओंके मूल तत्त्वका विरोध करना है यह तो मनकी सीनाजोरी है, एक अलीक कल्पना है। अनंतत्व सांत रूपोंपर अपने-आपको अपनी अलंघनीय आत्मस्थितिके द्वारा आरोपित करता है।

परन्तु यह तो काल और देशके संबंधमें जो अनंतत्व है

उसकी बात हुई; किंवा शाश्वत स्थायित्वकी, किंवा असेष विस्तारकी बात हुई। विशुद्ध बुद्धि इससे भी आगे बढ़ती तथा काल और देशको अपने निरंजन तामस प्रकाशमें देखती हुई यह बतलाती है कि ये दोनों हमारी अपनी चेतनाके पदार्थ हैं। वे अवस्थाएं हैं जिनके अंतर्गत हम घटनाके अनुभवकी व्यवस्था करते हैं। सत्‌को जब हम उसके अपने स्वरूपमें देखते हैं तो काल और देशका लोप हो जाता है। यदि कोई विस्तार है तो वह देशके अंदर नहीं पर मनस्तात्विक है। यदि कोई स्थायित्व है तो वह कालके अंदर नहीं बल्कि मनस्तात्विक है; और तब यह जानना सहज हो जाता है कि विस्तार और स्थायित्व केवल प्रतीक हैं जो मनके सामने किसी ऐसी वस्तुको प्रतिभात करते हैं जिसे बौद्धिक परिभाषा में नहीं उतारा जा सकता, यह वह सनातनत्व है जो हमें उसी एक सर्वाधार नित्य-नव क्षणके रूपमें प्रतीत होता है, यह वह अनंतत्व है जो हमें वही एक सर्वाधार सर्वव्यापी विस्तारहीन बिन्दुके रूपमें प्रतीत होता है। और परिभाषाओंका यह संघर्ष, जो प्रचंड होते हुए भी उस वस्तुका ठीक-ठीक मान करनेवाला है जिसे हम सचमुचमें अनुभव करते हैं, यह बतलाता है कि मन और वाणी अपनी स्वाभाविक सीमाओंको लांघ गये हैं तथा किसी उस सद्वस्तुकी व्यंजना करनेका प्रयास कर रहे हैं जिसमें इनकी अपनी रूढ़ियां, इनके अपने अपरिहार्य विरोध किसी अकथनीय तादात्म्यमें लुप्त हो जाते हैं।

परंतु क्या यह सच्चा लेखा है? ऐसी बात तो नहीं है कि देश और काल इसलिये लुप्त हो जाते हैं कि हम जिस अस्तित्वको देख रहे हैं वह बुद्धिकी एक कपोलकल्पनामात्र है, एक कल्पित शून्य है, जिसे वाणीने गढ़ डाला है और जिसे हम धारणात्मक सद्वस्तुका रूप दे देना चाहते हैं? हम उस स्वयंभू सत्‌को फिरसे देखते हैं और कहते हैं कि नहीं, ऐसी बात नहीं है। जागतिक घटनाके पीछे कोई चीज ऐसी है जो केवल अनंत ही नहीं बल्कि अवर्णनीय है। किसी भी घटनाके, घटनाओंके किसी भी समूहके विषयमें हम यह नहीं कह सकते कि वह निरपेक्ष भावसे है। यदि हम समस्त घटनाओंको गति या क्रियाशक्तिकी एक मूलगत, विश्वव्यापी, अपरिवर्तनीय घटनामें परिणत कर दें तो भी अंतको हम केवल एक अवर्णनीय घटनाको ही प्राप्त होते हैं। स्वयं गतिकी धारणा विश्रामकी संभावनाको लिये हुए है और इस बातका चिन्ह है कि यह किसी सत्‌की कर्मण्यता है; कर्मरत क्रियाशक्तिकी भावनाके अंदर ही कर्मविरत क्रिया शक्तिकी भावना निहित है, और निष्क्रिय निरपेक्ष क्रियाशक्ति स्पष्ट रूपसे निरपेक्ष सत् ही है। अब हमारे सामने ये दो चीजें आती हैं, या तो एक अवर्णनीय शुद्ध सत्, या एक अवर्णनीय कर्मरत क्रियाशक्ति, और यदि केवल यह दूसरी वस्तु ही सत्य है और इसका कोई स्थावर आधार या कारण नहीं, तो क्रियाशक्ति एक वह परिणाम और घटना है जो कर्मसे, उस गतिसे उद्भूत हुई है, केवल जिसका ही अस्तित्व है। तब सत् जैसी कोई वस्तु नहीं, अथवा यों कहें कि बौद्धोंका शून्य ही तब है; जिनके अनुसार सत् किसी शाश्वत घटनाका, कर्मका, गतिका गुणधर्ममात्र है। परंतु विशुद्ध बुद्धि आग्रहपूर्वक कहती है कि इस बातसे मेरे अनुभवोंको संतोष नहीं होता, इस जगद्-प्रपंचके पीछे मैंने मूल सद्वस्तुके रूपमें जिसको देखा है वह बात उसके विरुद्ध पड़ती है और इस कारणसे यह ठीक नहीं है। क्योंकि यह हमें हठात् समाप्त हो जानेवाले एक ऐसे ऊपरके जीनेपर पहुंचा देती है जहांसे यह सारी सीढ़ी बिना किसी सहारेके शून्यमें लटकती हुई दिखायी देती है।

यदि यह अवर्णनीय, अनंत, कालातीत, देशातीत सत् हो तो अवश्य ही यह एक शुद्ध निरपेक्ष सत् है। और इसके बारेमें यह नहीं कहा जा सकता कि यह कोई परिणाम या परिणामोंका समूह है, यह किसी गुण या गुण-समूहोंसे बना हो यह भी नहीं कहा जा सकता। न यह रूपोंका वह अचस्तन स्तर है जहां रूप बिखर कर रह जाते हैं। यदि समस्त रूपों, परिमाणों और गुणोंका लोप हो जाय तो भी इसका अस्तित्व रहेगा परिमाणहीन, गुणहीन, रूपहीन, सत् न केवल धारणागम्य ही है, बल्कि यही वह एकमात्र वस्तु है जिसके अस्तित्वकी धारणा हम इन घटनाओंके पीछे कर सकते हैं। अवश्य ही, जब हम यह कहते हैं कि ये प्रपंच उसमें नहीं हैं तो इस बातसे हमारा अभिप्राय यही होता है कि वह इनका अतिक्रमण करता है और यह कि वह कोई वह वस्तु है जिसमें ये सब, जिन्हें हम रूप, गुण और परिमाण कहते हैं, इस प्रकार समा जाते हैं मानो इनका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता और फिर जिसमेंसे

ही ये गतिके अंदर रूप, गुण और परिमाणकी तरह प्रकट होते हैं। ये उसी एक रूप, एक गुण वा एक परिमाणमें नहीं समा जाते जो बाकीके सभी रूपों, गुणों या परिणामोंका आधार हो—क्योंकि ऐसी कोई चीज है ही नहीं-- बल्कि ये उस वस्तुमें समा जाते हैं जिसका ठीक--ठीक वर्णन उनमेंके किसी शब्द द्वारा नहीं हो सकता। सो, ये सभी वस्तुएं जो कि गतिकी अवस्थाएं और अवभास हैं उस तत्में समा जाती हैं जिसमेंसे वे आयी हैं और जबतक कि वहां रहती हैं तबतकके लिये कोई ऐसी वस्तु बन जाती हैं जिसे अब उन्हीं शब्दोंमें निरूपित नहीं किया जा सकता जो तब मौजूं होते हैं जब कि वे गतिके अंदर होती हैं। इसीलिये हम यह कहते हैं कि शुद्ध सत् निरपेक्ष है और अपने-आपमें हमारी बुद्धिके लिये अज्ञेय है यद्यपि उसमें हम उस परम तादात्म्यके द्वारा वापस पहुंच सकते हैं जो ज्ञानके पर्यायवाची शब्दोंके परे है। इसके विपरीत, गति आपेक्षिकताका क्षेत्रमात्र है, तथापि आपेक्षिकताका स्वयं वर्णन यह प्रमाणित करता है कि गतिके अंदरकी समस्त वस्तुएं उस निरपेक्ष तत्त्वको धारण किये हुए है, उसके अंदर धृत हैं और वही हैं। प्रकृतिकी घटनाओंका जो संबंध उस मूलगत आकाशतत्त्वके साथ है जो इन घटनाओंके अंदर आधेय रूपसे है, जिससे ही ये घटती हैं तथा जो इन्हें धारण किये हुए है, पर फिर भी जो इनसे इतना भिन्न है कि उसमें प्रवेश करनेपर ये वही नहीं रह जाता जो अब हैं—यही वह उदाहरण है जिसे वेदांतने निरपेक्ष तत्त्व और सापेक्ष तत्त्वके बीच भिन्नतामें तादात्म्यको दिखाते हुए दिया है और जो मूल विषयके अत्यंत समीप पडता है।

अवश्य ही जब हम कहते होते हैं कि वस्तुएं उसमें प्रवेश करती हैं जिसमेंसे वे आयी हैं तब हम अपनी कालगत चेतनाकी भाषाका प्रयोग करते होते हैं और इस चेतनाकी भ्रांतियोंसे हमें अपनेको बचाकर रखना होगा। अक्षरसे गतिका निर्गत होना एक शाश्वत घटना है और चूंकि उसकी धारणा हम अनादि, अनंत उस नित्य-नव क्षणके अंदर नहीं कर पाते जो कालातीतकी शाश्वतता है, इसलिये हमारे विचार और अनुभव विवश होकर उसे एक आनुक्रमिक स्थायित्वकी ऐसी कालगत शाश्वतताके अंतर्गत मानने लगते हैं जिसके साथ किसी पुनरावर्त्तनशील आदि, मध्य और अंतकी भावनाए जुडी हुई होती हैं।

परंतु ये सब, यह कहा जा सकता है कि, तर्भातक प्रामाण्य हैं जबतक कि हम विशुद्ध बुद्धिकी धारणाओंको स्वीकार करते और उनके अधीन लेकर रहते हैं। परंतु बुद्धिकी धारणाओंको माननेके लिये हम बंधे हुए नहीं हैं। अस्तित्व संबंधी निर्णय हमें अपनी मानसिक धारणासे नहीं, बल्कि अस्तित्वके प्रत्यक्ष अनुभवसे करना होगा। और अस्तित्व-जैसा कि यह देखनेमें आता है—के संबंधमें हमारी शुद्धतम मुक्ततम अंतर्दृष्टि हमें गतिके सिवा कुछ भी नहीं जताती। केवल दो चीजोंका ही अस्तित्व है-देशके अंदर गति और कालके अंदर गति, पहली बाह्य है और दूसरी आभ्यंतर। विस्तार सत्य है, स्थायित्व सत्य है, देश और काल सत्य हैं। यदि हम देशगत विस्तारके पीछे जाकर उसे एक मनस्तात्विक घटनाके रूपमें देख सकें, यह देख सकें कि हमारा मन अविभाज्य समग्रताको किसी धारणात्मक देशके अंदर बांटकर अनंत अस्तित्वको व्यवहार योग्य करनेका प्रयास कर रहा है, तो भी हम कालगत अनुक्रम और परिवर्तनकी गतिके पीछे नहीं जा सकते। क्योंकि हमारी चेतनाका यही तो उपादान है। हम और यह जगत् एक गति हैं और यह गति सदा आगे बढ रही है, वर्त्तमानके अंदर भूतके समस्त अनुक्रमोंका समावेश कर परिवर्धित हो रही है, उस वर्त्तमानके जो हमें यह जताता है कि यही भविष्यमें होनेवाले समस्त अनुक्रमोंका आरंभ है—यह वह आरंभ, वह वर्त्तमान है जो हमारी पकडमें कभी आता ही नहीं, क्योंकि वह तो है ही नहीं, कारण वह तो जन्मसे पहले ही मर चुका है। जो कुछ है वह कालका शाश्वत अविभाज्य अनुक्रम है जो अपने प्रवाहमें चेतनाकी प्रगतिशील गतिको लिये चलता है और यह गति भी स्वयं अविभाज्य × है। स्थापित्व ही, कालके अंदर

× गति अपनी समग्रतामें अविभाज्य है। काल या चैतन्यका प्रत्येक क्षण अपने पहले और पीछेके क्षणसे पृथक् माना जा सकता है, क्रियाशक्तिके प्रत्येक आनुक्रमिक कर्मको एक नवीन तादाद, एक नवीन सृष्टि कहा जा सकता है; परंतु इससे निरवच्छिन्नताका लोप नहीं होता, क्योंकि यदि, निरवच्छिन्नता न हो, तो न तो कालका स्थायित्व होगा न चेतनाकी संलग्नता। मनुष्य जब चलता दौडता या कूदता है तब उसके प्रत्येक डग पृथक्-पृथक् पडते हैं, किंतु ऐसी ई चीज है जो इन डगोंको गति और इस गतिको निरवच्छिन्नता प्रदान करती है।

शाश्वत रूपसे अनुक्रमिक गति और परिवर्तन ही तब एक-मात्र निरपेक्ष वस्तु है। संभूति ही एकमात्र सत्ता है।

वास्तवमें, सत्ताके विषयमें यथार्थ अंतर्दृष्टि और विशुद्ध बुद्धिकी धारणात्मक कल्पनामें जो यह विरोध है वह झूठा है। इस विषयमें अंतःस्फुरणा यदि बुद्धिका सचमुच विरोध करती होती तो अवश्य ही हमारे लिये यह संभव नहीं था कि हम मूलगत अंतर्दृष्टिके विरुद्ध जाकर मात्र किसी धारणात्मक युक्तिका पूर्ण भरोसेके साथ समर्थन कर सकते। परंतु अंतःस्फुरित अनुभव अभी हमें पूरी बात नहीं बता सकता क्योंकि अभी वह स्वयं अपूर्ण है। यह अनुभव जहांतक पहुंच सका है वहांतक तो प्रामाण्य है, पर पूर्ण अनुभवतक पहुंचनेके पहले बीचमें ही रुक जानेकी तो यह भूल ही करता है। अंतःस्फुरणा जबतक हमारी संभूतिसे ही मतलब रखती है तबतक हमको यही दिखायी देता रहता है कि हम कालके शाश्वत अनुक्रममें चेतनाके अंदर गति और परिवर्तनके एक निरवच्छिन्न प्रवाह मात्र हैं। हम वह नहीं हैं, वह अग्निशिखा है जिसका वर्णन बौद्ध धर्मग्रंथोंमें उदाहरणके रूपमें पाया जाता है। परंतु एक परम अनुभूति और परम अंतःस्फुरणा होती है जिसके द्वारा हम ऊपरी तलके व्यक्तित्वके पीछे चले जाते और यह पाते हैं कि संभूति, परिवर्तन और अनुक्रम हमारी सत्ताका केवल एक गुण धर्म है और यह कि हमारे अंदर कोई वह तत्त्व है जो संभूतिमें बिलकुल ही निमग्न नहीं है। हमारे अंदर जो यह स्थाणु और शाश्वत तत्त्व है उसकी हमें केवल अंतःस्फुरणा ही नहीं होती, इन सतत रूपसे नश्वर संभूतियोंके परदेके पीछे हमारे अनुभवमें इसकी एक झांकी ही नहीं होती, बल्कि अंतर्मुखी होकर उसमें हम जा सकते और पूर्ण रूपसे रह सकते हैं, तथा इस प्रकार अपने बाह्य जीवनमें, अपने भावमें और जगत्‌की गतिपर होनेवाली अपनी क्रियामें संपूर्ण परिवर्तन ले आ सकते हैं। और यह स्थाणुत्व, जिसमें कि हम इस प्रकार रह सकते हैं, ठीक वही चीज है जिसे विशुद्ध बुद्धि हमें बता चुकी है, यद्यपि युक्तिके बिना ही, यह क्या है इस बातका पूर्व ज्ञान रखनेके बिना ही, इसको प्राप्त किया जा सकता है— यही है शुद्ध सत्, शाश्वत, अनंत, अवर्णनीय कालके अनुक्रमसे अस्पृष्ट, देशके विस्तारमें अनिमग्न, रूप परिमाण और गुणके परे, केवल आत्मा, निरपेक्ष तत्त्व।

शुद्ध सत् तब एक तथ्य है, केवल धारणा ही नहीं, यही मूल सद्वस्तु है। परंतु झटसे हमें यह भी कह देना चाहिये कि गति, क्रियाशक्ति, संभूति भी एक तथ्य है, एक सद्वस्तु है। परम अंतःस्फुरणा और उसकी तत्तत् अनुभूति इस दूसरे तथ्यको सुधार सकती है, इसके परे जा सकती है, इसे स्थगित कर सकती है, पर इसे रद्द नहीं करती। सो, हमारे सामने दो मूल तथ्य हैं, एक शुद्ध सत्‌का और दूसरा जगत्-जीवनका, अर्थात् एक सत्ताका और दूसरा संभूतिका। इनमेंसे किसी एकको अस्वीकार करना सहज है, पर सत्य और सार्थक विज्ञता तो इसमें है कि हम चेतनाके तथ्योंको स्वीकार करें और उनके पारस्परिक संबंधको जान लें।

स्थाणुत्व और गति, हमें यह याद रखना चाहिये कि, निरपेक्ष ब्रह्मके हमारे मानसिक प्रतिरूप हैं, वैसे ही जैसे एकत्व और बहुत्व। निरपेक्ष ब्रह्म जैसा एकत्व और और बहुत्वके परे है वैसा ही स्थाणुत्व और गतिके परे है। परंतु वह एक और स्थाणुमें अपना शाश्वत् आसन जमाता है और सचल और अनेकके अंदर अनंत, अचिंत्य और सुरक्षित रूपसे अपने-आपको परिक्रमा करता रहता है। जगत्-जीवन शिवका वह तांडव नृत्य है जो दृष्टिके सामने इस देवके शरीरको असंख्य गुना कर देता है और इस नृत्यके होते हुए भी वह शुभ्र सत् ठीक वहीं और वैसा ही बना रहता है जहां और जैसा कि वह था, सदा है और रहेगा; इस नृत्यका एकमात्र और निरपेक्ष उद्देश्य है स्वयं नृत्यका आनंद।

परंतु चूंकि हम इस निरपेक्ष सत्‌का वर्णन और चिंतन उसके अपने स्वरूपमें, अर्थात् स्थाणुत्व और गतिके परे, एकत्व और बहुत्वके परे, नहीं कर सकते—और न यह हमारा काम ही है—इसलिये हमें इस द्विविध तथ्यको स्वीकार करना ही होगा, शिव और काली, दोनोंको ही मानना होगा और यह जाननेका प्रयास करना होगा कि उस कालातीत देशातीत एक और स्थाणु सत्‌के आगे— जिसे न परिमेय ही कहा जा सकता है न अपरिमेय ही—यह काल-

गत और देशगत अपरिमेय गति क्या चीज है। हमने यह देख लिया है कि सत्के, शुद्ध सत्के बारेमें विशुद्ध बुद्धि, अंतःस्फुरणा और अनुभूतिका कहना क्या है, अब हमें यह देखना है कि शक्तिके बारेमें, गतिके बारेमें उन्हें क्या कहना है।

और, सबसे पहला सवाल जो हमें अपने-आपसे करना है वह यह है कि क्या वह शक्तिमात्र एक शक्ति ही है, गतिकी मात्र एक अबोध क्रियाशक्ति ही है या चेतना, जो कि इसीमेंसे निकलकर इस जड प्राकृतिक जगत्में, जिसमें कि हम रहते हैं, प्रकट होती हुईसी मालूम होती है, इसके प्रांपचिक परिणामोंमें मात्र एक परिणाम ही नहीं, बल्कि इसका अपना सत्य और गुह्य स्वभाव है। अथवा वेदांतिक परिभाषामें यों कहें कि शक्ति क्या एक सीधी-साधी प्रकृति है, क्रिया और प्रक्रियाकी मात्र एक गति है अथवा प्रकृति चित्की शक्ति है, अपने स्वभावमें सृष्टा आत्म-चैतन्यकी शक्ति है? इस सारभूत समस्यापर ही बाकी सब कुछ निर्भर करता है।

सर मिर्जा इसमाइल

श्री इसमाइल महोदय मुसलमानोंमें अत्यन्त प्रतिष्ठित तथा उदार विचारके विद्वान् हैं। श्री वीर भद्रप्पाके बंगलोर नगरस्थ संस्कृत वेद पाठशालाके रजत्जयन्ती महोत्सवके अवसरपर १० फरवरी १९४० ई० को आपने **संस्कृतकी महत्ताके सम्बन्धमें** कहा था—

मैं नहीं जानता कि यह अत्युक्ति मानी जाएगी या नहीं यदि मैं कहूँ कि संस्कृतका अध्ययन बुद्धि-विलाससे बढकर ही कुछ वस्तु है। यदि यह मानना स्पष्टतः कठिन होगा कि इस भाषा या साहित्यका ज्ञान साधारण जनके व्यावहारिक जीवनमें अपेक्षित है, तो मैं समझता हूँ कि यह कुछ भी अयुक्त न होगा यदि मैं कहूँ कि हमारे शिक्षित युवक अपने समय तथा शक्तिका एक भाग इस महिमामयी और आश्चर्यमयी भाषाका एक अच्छासा ज्ञान उपार्जन करनेमें लगाकर अपना हितही करेंगे और इतिहासके अध्यवसायी विद्यार्थीके सम्बन्धमें तो, जो भारतके अतीतकी महत्ता समझना चाहता है, मुझे सन्देह है यदि वह संस्कृतके बिना सचमुच काम चला सकता है। क्योंकि भारतकी प्राचीन सभ्यताका सार ही संस्कृत साहित्य है और इसमें हिन्दु धर्मका सारतत्व है।

यद्यपि हिन्दु धर्म और संस्कृत विद्याका इस प्रकार सहयोग है तथापि यह भाषा तथा इसका साहित्य स्वयं जो आकर्षण वहन करते हैं वह भौगोलिक और धार्मिक सीमाओंको पार कर जाता है।

संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास

(समालोचना)

[लेखक— श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक, प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान, काशी । प्रकाशक-श्री पं० भगवद्दत्तजी बी. ए. । प्राप्तिस्थान-प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमतगढ पैलेस, बनारस ६; मूल्य १०)]

पं० युधिष्ठिरजी बहुत बडे विद्वान् हैं और वे जिसकी खोज करते हैं उसमें अपनी विद्याकी पराकाष्ठा दिखाते हैं। ऐसा ही यह ग्रंथ है। इसलिये पं० भगवद्दत्तजीने अपने प्राक्कथनमें कहा है कि—" अनेक आर्थिक तथा अन्य कठिनाइयोंको सहन करते हुए जब एक महा विद्वान् ब्राह्मण सत्यकी पताकाको उत्तोलित करता है और विद्याविषयक एक वज्र-ग्रंथ प्रस्तुत करके नामधारी विद्वानोंके अनृतवादोंका निराकरण करता है तो हमारी आत्मा प्रसन्नताकी पराकाष्ठाका अनुभव करती है।... ऐसा प्रयास मीमांसकजीका है। "

ये शब्द इस ग्रन्थके विषयमें अक्षरशः सत्य हैं। इस ग्रन्थमें ये अध्याय हैं—संस्कृत भाषाकी प्रवृत्ति, विकास और न्हास, व्याकरणशास्त्रकी उत्पत्ति और प्राचीनता, पाणिनीय अष्टाध्यायीमें अनुल्लिखित १३ प्राचीन व्याकरणाचार्य, पाणिनीय अष्टाध्यायीमें उल्लिखित १० आचार्य, पाणिनी और उसका अनुशासन, आचार्य पाणिनीके समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय, संग्रहकार, व्याडी, वार्तिककार, वार्तिकोंके भाष्यकार, भाष्यकार पतंजलि, महाभाष्यके २० टीकाकार, महाभाष्य प्रदीपके १५ व्याख्याकार, अनुपदकार और पदशेषकार, अष्टाध्यायीके ४१ वृत्तिकार, काशिकाके ८ व्याख्याता, पाणिनीय व्याकरणके प्रक्रिया ग्रन्थकार, आचार्य पाणिनीसे अर्वाचीन १५ वैयाकरण। इन विषयोंका उत्तम विचार इन ग्रन्थमें पाठक देख सकते हैं। लेखकने अपने विषयका विवरण करनेमें उपलब्ध सब प्रमाण दिये और किसी भी स्थानपर अयुक्ति न करते हुए प्रतिपाद्य-विषयका यथार्थ स्वरूप लिखा है। यह इस ग्रन्थकर्ताकी विशेषता है।

पाणिनीकी अष्टाध्यायीमें जिनका नाम नहीं है ऐसे १३ आचार्योंका वर्णन, काल और प्रमाण वचन पृ. ५७ से ९३ तक दिये हैं (१) इन्द्र ८५०० विक्रम पूर्व, (२) वायु, (३) भरद्वाज (८३०० वि० पू०), (४) भागुरिः (३१०० वि० पू०) (५) पौष्कर सादि, (६) चारायण, (७) काशकृत्स्न, (८) वैयाघ्रपद्य, (९) माध्यन्दिनि (३००० वि० पू०) (१०) रौढि, (११) शौनकिः, (१२) गौतमः, (१३) व्याडिः (२८५० वि० पू०)

इसके आगे पाणिनीय अष्टाध्यायीमें जिनके नाम आये हैं ऐसे १० आचार्योंके नाम, काल तथा परिचय १२८ पृष्ठ तक दिया है।

पृ० १२९ पर पाणिनीका काल विक्रम पूर्व २८०० वर्ष दिया है और लिखा है कि-' निरुक्त १३।१२ से विदित होता है कि यास्कके कालमें ऋषियोंका उच्छेद होना आरम्भ हुआ था। भारतीय युद्धके अनन्तर शनैः शनैः ऋषियोंका उच्छेद आरंभ हुआ था। भारतीय युद्धतक ऋषि होते थे, पर उस समयके विद्वान् भी यह कहते हैं कि अब ऋषि दीखते नहीं। फिर इस समयका तो क्या वर्णन करना है।

पाणिनीके समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मयका वर्णन षष्ट अध्यायमें पृ० १६९ से १९३ तक किया है। इसमें वेदसे लेकर पाणिनी-समकालीन ग्रन्थोंतक क्रमपूर्वक उत्तम वर्णन है। यह विषय देखने योग्य है। पाणिनीने कितने ग्रंथ देखे थे इसका ज्ञान इससे होता है।

दसवें अध्यायमें महाभाष्यकार पतंजलीका वृत्तांत पृ० २३४ से २५५ तक है। इसको देखनेसे पतंजलीकी विद्वत्ताका उत्तम परिचय हो सकता है।

अष्टाध्यायीके वृत्तिकार, काशिकाके व्याख्यान आदिका विस्तृत वर्णन इसके आगे पृ. ३७४ तक है। अन्तमें अर्वाचीन व्याकरणकारोंका वर्णन किया है। इस तरह यह ग्रंथ उत्तम प्रमाण वचनोंसे अलंकृत होनेके कारण बडा सुयोग्य प्रामाणिक ग्रंथ हुआ है। व्याकरणशास्त्रके इतिहास विषयमें जो लिखना योग्य और आवश्यक है वह सब इसमें लिखा

गया है। इसलिये इस ग्रंथको हम प्रामाणिक ग्रंथ कह सकते हैं।

विश्वविद्यालयके पाठ्यपुस्तकोंमें इसका नाम अवश्य आना चाहिये ऐसा यह अमूल्य ग्रंथ है। इसलिये हम पं० युधिष्ठिरजी मीमांसकजीका हार्दिक अभिनंदन करते हैं कि उन्होंने अपने अथक परिश्रमसे व्याकरणशास्त्रका अमूल्य ज्ञान सग्रहित करके यह उत्तम ग्रंथ बनाया है।

पं० युधिष्ठिरजीमें निर्दोष लेख लिखनेकी शक्ति है, यह बात इस ग्रंथसे स्पष्ट प्रतीत होती है। इसलिये पं० युधिष्ठिरजीके धन्यवाद किये विना हम नहीं रह सकते। यह ग्रंथ सब हायस्कूलों और कालेजोंके ग्रन्थालयोंमें अवश्य रखने योग्य है। कालेजके विद्यार्थीगण इसको पढेंगे तो उनका अपने प्राचीन व्याकरण विषयक ग्रंथोंका महासमुद्र कितना अगाध था इसका पता लग जायगा। और अपने पूर्वजोंके ज्ञानकी गहराई उनको हो सकेगी। आशा है कि सब हायस्कूल और कालेजोंके संचालक इसको अपने ग्रंथालयमें रखेंगे और अपने ग्रंथालयकी शोभा इससे बढायेंगे।

गद्य महाभारत

[लेखक—श्री आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री। प्रकाशक—रोशन बुक डिपो, एज्युकेशनल पब्लिशर्स, नई सडक, देहली। सर्वाधिकार सुरक्षित। मूल्य ३) रु.]

श्री व्यासजीका महाभारत पद्यमें है तथा उसमें अनेकानेक कथाएं भी संमिलित की गई हैं। इसलिये पाठकको वह इतिहासका ग्रंथ सुबोध होनेपर भी अत्यंत दुर्बोधसा हुआ है। श्री आचार्य राजेन्द्रनाथजी शास्त्रीने इस पद्यमय महाभारतसे अन्यान्य कथानकोंको हटा दिया है और केवल पाण्डवोंके इतिहासको ही प्रत्यक्ष व्यासजीकी ही भाषा में गद्यमें अवतरित किया है। संस्कृत भाषामें यह ऐसा मुद्रित किया ग्रंथ अपूर्व है। मद्रासमें ऐसा एक यत्न किया गया था ? पर उससे सुबोधताकी दृष्टिसे यह अधिक उत्तम ग्रन्थ है। इस समय संस्कृत भाषा हरएक भारतीयको अवश्य सीखनी चाहिये। भारतकी सब भाषाओंको उन्नत करनेके लिये संस्कृत भाषा सहायक होती है। इसलिये संस्कृत भाषा सीखनेकी प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन बढ रही है। ऐसी अवस्थामें ऐसे गद्य महाभारतका प्रकाशन संस्कृत सीखनेवालोंके लिये निःसंदेह सहायक होनेवाला है।

यह पुस्तक कालेजमें संस्कृत लेनेवालोंके लिये अत्यंत लाभदायक हो सकती है। हायस्कूलके उच्च वर्गोंके छात्र भी इसको पढकर समझ सकते हैं। कालेजोंमें यह पाठ्य पुस्तक करके रखने योग्य पुस्तक है। काशीकी संस्कृत मध्यमा तथा हरएक स्कूल-कालेजोंके विद्यार्थियोंकी संस्कृत भाषाकी उन्नति करनेके लिये यह पुस्तक निर्धारित करने योग्य है। इसकी विशेषताएं ये हैं—

१ यह व्यासभाषामें ही गद्यमें है।

२ इसमें कौरवपांडवोंका इतिहास सरल संस्कृत भाषामें है।

३ यह पुस्तक ब्रह्मचारी भी पढ सकते हैं।

४ इसकी भाषा सरल, शुद्ध और असमस्त है, अतः सरल है। संधि भी विभक्त करके पदच्छेदपूर्वक वाक्य रखे हैं अतः यह पुस्तक सुबोध है।

यह पुस्तक घरघरमें पढी जाने योग्य है। छपाई सुन्दर है, अक्षर बडे हैं। पुस्तक चित्ताकर्षक है।

ब्रह्म-साक्षात्कार

अध्याय ५। देव = सूर्य।

खण्ड १। ३३ देव = सूर्यकी ३३ शाखाएं।

[लेखक : श्री. गणपतराव बा. गोरे, ३७३ मंगलवार 'बी', कोल्हापूर]

पूर्व परिचय— ब्रह्म-साक्षात्कारकी लेखमाला वैदिक धर्म में अगस्त १९५० से चल रही है। अध्याय ४ में वा० य० ३२।३ के **न तस्य प्रतिमा अस्ति** इस एक वाक्यपर अक्तूबर, दिसंबर १९५१, जनवरी मार्च व नवंबर १९५२ के ५ अंकोंमें पर्याप्त विचार हो चुका है, अतः इस अध्यायको वहीं समाप्त करता हूं।

'देव' महिमा- 'ओ३म्' शब्दकी बडी महिमा है, परंतु यह शब्द वेदोंमें १० बार भी आया प्रतीत नहीं होता। जिस 'राम' और 'कृष्ण' के करोडों हिंदू उपासक हैं, वे भी वेदोंमें १०-१० बार ईश्वर अर्थोंमें आए प्रतीत नहीं होते। इनकी तुलनामें देव शब्द अपने रूपान्तरों तथा समासों सहित लगभग ६०० बार वेदोंमें आया होगा ऐसा अनुभव श्री पं० सातवलेकरजी द्वारा सम्पादित दैवत संहिता को देखनेसे होता है।

उत्तर भारतमें जो भाव ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा शब्दोंसे लिया जाता है वही भाव दक्षिण भारतमें देव पदसे लिया जाता है। मुसलमान और ईसाई तक इसी 'देव' पदको अल्लाह वा गॉड का पर्याय मानते हैं। मूर्तिपूजक भी अपनी मूर्तियोंको 'देव' ही कहते हैं, और अपने मंदिरोंको देवालय, देवस्थान वा देऊळ।

प्रारब्ध = नसीब = Fate को सभी ईश्वरप्रदत्त मानते हैं। महाराष्ट्रमें इसे दैव [देवादागतः अण्] Caused by or comming from God कहते हैं। यह प्रारब्ध वा दैव हमारे पूर्व जन्मोंमें किए हुए कर्मोका फल ही है जो हमें वर्तमान जन्ममें सूर्यदेव द्वारा दिया जा रहा है।

वेदके अनुसार सूर्य ही वह उपास्यदेव है जो सृष्टिका अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। यही 'पुरुष वृक्ष' वह वा 'स्कम्भ' है जिसमेंसे सृष्टि-रचना करनेवाले ३३ देव वृक्षसे शाखाओंके समान फूटकर बाहर निकले हैं।

आज सैकडों मत-मतान्तर अपना उगम वेदसे मानते हैं। परंतु इनके सिद्धान्त वेदकी कसौटीपर परखनेसे पूरे नहीं उतरते! कैसे? इसका कुछ उत्तर पाठकोंको इस लेखके पढनेसे मिल जायगा।

सूर्य ही उपास्य देव है। ३३ देव इसीसे उत्पन्न होनेके कारण देवाः= देव+अ कहलाते हैं। इनका ज्ञान प्राप्त करना मानो स्वयं सूर्यका ज्ञान प्राप्त करना है-सूर्य इनका अभिन्न निमित्तोपादान कारण जो हुआ। अ० १०।७।२७ में आदेश है कि जो इन अग्न्यादि ३३ देवोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं वे ब्रह्मज्ञानी कहलाते हैं-अर्थ आगे देखिए। इस वेदादेशके अनुसार जिन पाश्चात्य विद्वानोंने अग्नियान, वायुयान, रेडियो, अणुबम आदि बनाए वे सबके सब ब्रह्मज्ञानी हैं! वेदकी व्यापकता देखिए! इसी कारण ऋषि दयानन्द इन्हें मानवमात्रका एक ही धर्म पुस्तक मानते हैं। जब ३३ देवोंका ज्ञान प्राप्त करना मानो स्वयं सूर्यका ज्ञान प्राप्त करना सिद्ध हुवा, तब ३३ देवोंकी उपासना करनी भी सूर्यकी उपासना करनी सिद्ध होगी, परंतु ऋषिका मत इसके विरुद्ध भी है, और अनुकूल भी-पढिए शंका १,२ समाधान सहित, वेदादेश देखिए—

परमं धाम=सूर्य। ऋषि वेनः। देवता आत्मा।
यो देवानां नामधः एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यंति सर्वा ॥ अ० २।१।३ ॥

अर्थ—स्वामी वेदानंदजीका वेदामृतमें-(यः) जो ईश्वर (एक एव) अकेला ही (देवानां नामधः) देवोंके नाम धारण करनेवाला है, (तं सं-प्रश्नं) उस पूछा करने योग्य ईश्वरके प्रति (सर्वा भुवना) सब अन्य भुवन (संयन्ति) मिलकर जाते हैं ॥ ३ ॥

स्पष्टीकरण-ले० का—जिस सूर्यकी प्रदक्षिणा करते हुए पृथिव्यादि लोक निरन्तर पूछताछ करते रहते हैं वहीं एक सब देवोंके नामोंको अपनेमें धारण करता है, अर्थात् देवोंकी पूजा= स्वयं सूर्यकी पूजा !

जिन्हें अधिक विचार करना हो वे ऋ० १।१६४।४६॥वा० य० ३२।३ ॥ अ० १३।३।१३॥ अ० १३।४।१-५, २५,२६ देखें। इन मंत्रोंमें सूर्यको परमेश्वर मानते हुए उसके अनेक नाम बताए हैं, जो साथ ही उसमेंसे फूटकर निकलनेवाले देवोंके भी नाम हैं। क्यों? इसलिए कि साकार सूर्य ही इन देवोंके गुण कर्म स्वभावोंको धारण करता है, निराकार परमात्मा नहीं।

'देव' की महिमा यथा प्रसंग आगे भी वर्णित होती रहेगी। अब ३३ देवोंका विचार चलता है।

३३ देव स्कम्भ वा सूर्यकी शाखाएं हैं।

१ जिस स्कम्भमें ३३ देव समाए हैं, वह सर्वाधार साकार सूर्य है, निराकार पदार्थ नहीं।

सर्वाधार वर्णनम्। ऋषि अथर्वा। देवता स्कम्भ आत्मा वा।

१. यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे सर्वे समाहिताः। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।

॥ अ० १०।७।१३ ॥

टीप-मंत्र १३, २७, २९, ३८ इन चारों मंत्रोंके अर्थ पं० जयदेवकृत हैं।

अर्थ—(यस्य अंगे) जिसके अंगमें (सर्वे) सबके सब (त्रयः त्रिंशत्) तेंतीस (देवाः) देवगण (सम्-आहिताः) भली प्रकार स्थित हैं (तं स्कम्भं ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः) उस स्कम्भका उपदेश कर कौनसा है ? ॥ १३ ॥

स्पष्टीकरण—'स्कम्भ वा आत्मा' देवता है और यह सूर्य है। 'यस्य अंगे' पदसे भी सिद्ध है कि इस मंत्रमें साकार सूर्यका ही वर्णन है, निराकारका नहीं !

२ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे। तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥

॥ अ० १०।७।२७ ॥

अर्थ- (यस्य अंगे) जिसके शरीरमें (त्रयस्त्रिंशत् देवाः) तेंतीस देव (गात्रा विभेजिरे) अवयवके समान बटे हुए हैं। (एके ब्रह्मविदः) कोई ब्रह्मवेत्ता (तान्) उन (त्रय-स्त्रिंशत् देवान्) तेंतीस देवोंका ही (विदुः) ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥ २७ ॥

स्पष्टीकरण—३३ देवोंका ज्ञान प्राप्त होनेसे पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान इसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे अवयवों= Parts को जाननेसे पूर्ण Whole का होता है। इस अर्थसे सभी भौतिक विज्ञानी, जीवन, खनिज, भूगोल, खगोल शास्त्री ब्रह्मज्ञानी कहला सकते हैं। यह मंत्र भी परमेश्वरको साकार सूर्य सिद्ध कर रहा है-निराकार नहीं ! अगला २९ वां मंत्र स्कम्भका प्रत्यक्ष दर्शन कराता है।

३ स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृत-माहितम्। स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥

अ० १०।७।२९ ॥

अर्थ—(स्कम्भे लोकाः) स्कम्भमें समस्त लोक (स्कम्भे तपः) स्कम्भमें तप, और (स्कम्भे ऋतम् अधि आहितम्) स्कम्भमें 'ऋत' परमज्ञान प्रतिष्ठित है। हे (स्कम्भ) 'स्कम्भ' जगदाधार ! मैं द्रष्टा (त्वा) तुझ-को (प्रत्यक्षं वेद) साक्षात् करूं कि (इन्द्रे सर्वं समाहितम्) उस परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वरमें समस्त जगत् अच्छी प्रकार स्थित है ॥ २९ ॥

स्पष्टीकरण— पृथिव्यादि लोक, उष्णता= Heat और ऋत=वेद स्कम्भके आधारसे रहते है, और हे स्कम्भ ! मैं तुझे साराका सारा इन्द्र=सूर्यमें समाया हुआ प्रत्यक्ष देखता हूं ! इन्द्र, सूर्य, वा स्कम्भ एक हैं इस रहस्यको वेदने मंत्र ३० में इन्द्रे लोका इन्द्रे तपः लिखकर अधिक स्पष्ट किया है। और आगे देखिये—

४ महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिन् छ्रयन्ते स उ के च देवा वृक्षस्य स्कंधः परित इव शाखाः ॥

अ० १०।७।३८ ॥

अर्थ—(भुवनस्य मध्ये) इस समस्त संसारके बीचमें (महद् यक्षम्) वह बडा भारी पूजनीय या समस्त शक्ति-योंका एकमात्र संगमस्थान है, जो (तपसि क्रान्तं) तपः तेजमें व्यापक और (सलिलस्य पृष्ठे) अन्तरिक्षके भी पृष्ठ-पर उसके भी ऊपर शासक रूपसे विद्यमान है। (ये उ के

च) जो कोई भी (देवाः) प्रकाशमान तेजस्वी देव दिव्य पदार्थ हैं, वे (वृक्षस्य स्कन्धः) वृक्षके तनेके (परितः शाखाः इव) चारों ओर शाखाओंके समान (तस्मिन्) उस परम शक्तियोंके एकमात्र संगमस्थान ' यक्ष ' में ही (श्रयन्ते) आश्रय ले रहे हैं ॥ ३८ ॥ इसीकेलिए अन्यत्र वेदमें ' यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ॥

स्पष्टीकरण— समस्त संसारके बीचमें रहनेवाला, समस्त शक्तियोंका एकमात्र संगमस्थान, पूजनीय और साथ ही बडा भारी [निराकार, सूक्ष्म वा हलका नहीं] यक्ष साकार सूर्य ही है, निराकार पदार्थ नहीं ! यही सूर्य ' तपः तेज ' =उष्णता प्रकाशके कारण व्यापक हो रहा है, निराकार परमात्मा नहीं ! यही द्युलोकमें शासकरूपसे विद्यमान है । इसी यक्ष वा सूर्यमेंसे सब ३३ देव इस प्रकार फूटकर निकले हैं यथा वृक्षसे शाखाएं यही सूर्य सब शक्तियोंका एकमात्र केन्द्र है । श्री पं० जयदेवजीके अर्थोंके आधारपर ही ऐसा स्पष्टीकरण हो सका है, यह प्रबलताकी बात है । इतना होते हुए भी लोग वेदसे त्रैतवाद सिद्ध करनेकी चेष्टा करते ही हैं ।

५. इन ३३ देवोंके नाम आत्मदर्शनमें स्वर्गीय नारायण स्वामीजीने निम्न प्रकार दर्शाए हैं—

८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य (मास), इन्द्र (अशनि अथवा विद्युत्) और प्रजापति (यज्ञ), ये ३३ देवता हैं ।

८ वसु × — अग्नि, वायु, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ (प्रकाशक लोक), चंद्रमा, आदित्य, और नक्षत्र, वसु बसनेके स्थानको कहते हैं । इन्हीं ८ प्रकारके वसुगणोंमें प्राणी बस सकते हैं, इसीलिए वसु कहलाते हैं ।

११ रुद्र + —१० प्राण और ११ वां आत्मा ।

१२ आदित्य * — वर्षके १२ मास ।

वेदके प्रसिद्ध कोशकार यास्कमुनि निरुक्तमें लिखते हैं कि प्रधानतासे जिसका वर्णन हो वह देवता है, अर्थात् देवता ही ज्ञेय है ।

पं. गुरुदत्त विद्यार्थी एम. ए. ने यास्कके मतकी पुष्टि करते हुए लिखा है कि जिन विषयोंका मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है, वे ही देवता कहलाते हैं । उन्होंने, वे विषय क्या हैं, इसपर विचार करते हुए उनके छः वैज्ञानिक विभाग किए हैं —

१ समय, २ स्थान, ३ शक्ति, ४ आत्मा, ५ मनके इच्छित कार्य (Deliberate activities of mind, ६ जीवन संबंधी शरीरके अनिच्छित कार्य (Vital activities of body) इनका मिलान ३३ देवताओंसे देखिए—

वैज्ञानिक विभाग	वैदिक देवता
१ समय	१२ आदित्य (मास)
२ स्थान	८ वसु
३ शक्ति	१० रुद्र
४ आत्मा	१ रुद्र ११ वां
५ मनके विचारपूर्वक कार्य	१ यज्ञ (प्रजापति)
६ शरीरमें होनेवाले जीवन संबंधी अनिच्छित कार्य	१ विद्युत् (इन्द्र)
६ वैज्ञानिक विभाग	३३ देवता

अब इन देवताओंको सूक्ष्म रूपमें करें तो ११ वां रुद्र आत्मा (ईश्वर+जीव) और शेष ३२ देवता प्रकृति और उसके गुणोंके ही स्थानापन्न हैं । इस प्रकार ज्ञेय पदार्थोंको चाहे ईश्वर जीव प्रकृति कह दें, अथवा ३३ देवता अथवा ६ वैज्ञानिक विभाग–ये सब एक ही आशयको प्रकट करेंगे, उनमें अन्तर कुछ भी नहीं है । "

[आत्मदर्शनके उपोद्‌घातसे]

समीक्षा— १ श्री पं० जयदेवजीके भाष्यानुसार यही वे ३३ देव हैं जो स्कम्भ=सर्वाधार परमात्माके अगले

× पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चंद्रमा, सूर्य और नक्षत्र । स० प्र० स० ७ में ऋषि दयानन्द ॥

+ प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय, और जीवात्मा ॥ स० प्र० स० ७ ॥

* संवत्सरके १२ महीने १२ आदित्य इसलिए हैं कि ये सबकी आयुको लेते जाते हैं । बिजुलीका नाम इन्द्र इस हेतुसे है कि परम ऐश्वर्यका हेतु है । यज्ञको प्रजापति कहनेका कारण यह है कि जिससे वायु वृष्टि जल ओषधिकी शुद्धि विद्वानोंका सत्कार और नाना प्रकारकी शिल्प विद्यासे प्रजाका पालन होता है ॥ स० प्र० स ७ ॥

(मानो वृक्षसे शाखाएं) फूटकर निकले हैं । अर्थात् इन शाखाओंका स्कम्भसे अंगाअंगी संबंध है । निराकार परमात्मा शरीररहित है, इसलिए उससे ये ३३ देव उत्पन्न हो नहीं सकते । सिद्ध हुआ कि साकार सूर्यसे ही इनकी उत्पत्ति हुई ! हर्ष है कि स्वयं आर्यसमाजके विद्वान् ही ऐसा सिद्ध कर रहे हैं ।

२ पं० गुरुदत्तजी, तथा श्री नारायणस्वामीजी बता रहे हैं कि संसारके सभी ज्ञेय=ज्ञात होनेयोग्य पदार्थ इन ३३ देवोंके अन्तर्गत हैं । पं० गुरुदत्तजीके शब्द देखिये--

" If you account of Nirukta concerning Vedic DEVATAS, as we have given, be really true, we should find vedas inculding these six things. Time, Locality, Force, Human spirit, Deliberate activities, and Vital activities, and no others. "

[Terminology of the Vedas P. 54 in the Works of Late Pandit Gurudatta 1912 Edition.]

३ पं० गुरुदत्तजी वैज्ञानिक छः विभागोंमें ११ वे रुद्र=आत्माका अर्थ पाश्चात्य विद्वानोंके समान Human-spirit=मनुष्योंमें रहनेवाला जीवात्मा ही समझते थे, पशु-पक्षियोंमें रहनेवाला जीवात्मा नहीं ! इनके विपरीत ऋषि दयानंदने ११ वें रुद्र=आत्मा पदसे सभी जीवात्माओंका ग्रहण किया है [देखो पादटीप], अतः इनके अर्थोंमें अधिक व्यापकता है ।

४ परंतु इतना होते हुए भी ये दोनों अर्थ नास्तिकवादी हैं । कारण जिस परमेश्वरकी महिमा चारों वेद गा रहे हैं, वह इन अर्थोंके अनुसार अज्ञेय= जिसे कोई जान पहचान वा समझ न सके=Unknowable, incomprehensible दुर्बोध पदार्थोंकी कोटिमें जा पडता है ! श्री नारायण स्वामीजीको वह बात खटकी परंतु वे कोष्टकमें तो ११ वें रुद्रको (ईश्वर+जीव) लिख न सके [कारण ऐसा लिखना पं० गुरुदत्तजी तथा ऋषि दयानंद दोनोंके विपरीत होता], अतः नीचे अपने स्पष्टीकरणमें वैसा लिख दिया ।

५ ईश्वर तथा जीव=ज्ञाज्ञो (ज्ञः=ईश्वर तथा अज्ञः= जीव) दो विभिन्न पदार्थ हैं, ऐसा आर्यसमाज मानता है । एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक है और दूसरा अल्पज्ञ, सीमित शक्तिवाला, और एकदेशी है-अतः ये कभी एक हो नहीं सकते ऐसा आर्य समाजका मत है । परंतु आर्य समाजके इस सिद्धान्तका उल्लंघन करके, और अद्वैतवादियोंके सिद्धान्तका समर्थन [अनजाने ही क्यों न हो] करते हुए आप ' (ईश्वर+जीव) ' को एक कोटिमें गिनते हुए ११ वां रुद्र समझ रहे हैं । इसमें अद्वैतवादका विजय है । इसमें वेदका खण्डन भी है कारण अब देवताओंकी संख्या ३३ नहीं ३४ हो जायगी ।

६ The Terminology of the Vedas का प्रथम संस्करण आजसे ६५ वर्ष पूर्व सन १८८८ में छपा था । इसमें वेदके ३३ देवताओंके जो ६ वैज्ञानिक विभाग बनाए गए हैं, उनसे वेदका कुछ भी संबंध न होते हुए भी आर्यसमाजी आजतक इसे शिरोधार्य करते आए हैं, यह बडे ही आश्चर्यकी बात है । इनमें पं० गुरुदत्तजीकी पूर्वकालीन नास्तिकता झलक रही है, परंतु साम्प्रदायिक भाई इसे देख नहीं सकते । सत्यको ग्रहण करना कठिन है ।

७ शंका १ — यहां कई विद्वान कहेंगे कि ३३ देवोंमें यदि पं० गुरुदत्तजीने ईश्वरका समावेश नहीं किया है तो इसका कारण यह है कि वे ऋषि दयानंदके निम्न लेखानुसार ३३ देवोंको उपास्य नहीं समझते थे ।

"ये ३३ पूर्वोक्त गुणोंके योगसे देव कहाते हैं, । इनका स्वामी और सबसे बडा होनेसे परमात्मा ३४ वां उपास्यदेव शतपथके १४ वें काण्डमें स्पष्ट लिखा है । " [स० प्रकाश समु० ७]

समाधान —ऋषिने अपने इस लेखका खण्डन अपनी ही लेखनीसे सत्यार्थ प्रकाशके प्रथम समुल्लासमें १०० देवोंको उपास्य मानकर कर दिया है ।

हमने शतपथ नहीं पढा । परंतु यदि इसके १४ वें काण्डमें उपास्यदेवका नंबर ३४ वां बताया गया है, तो यह अ० १०।७।१३, ३८ आदि अनेक वेदमंत्रोंके आशयके विरुद्ध है, कारण इनमें परमात्माको स्कम्भ = तना वा थम्भा समझा गया है और ३३ देवोंको उसमेंसे फूटकर निकलनेवाली शाखाएं ! अतः तनेका नंबर १ का होना चाहिए ३४ वां नहीं !

शंका २ – "देवता दिव्य गुणोंसे युक्त होनेके कारण कहाते हैं, जैसी कि पृथिवी, परंतु इसको कहीं ईश्वर वा उपासनीय नहीं माना है । " [स० प्र० समु० ७]

समाधान – इसका खण्डन स० प्र० समु० १ में स्वयं ऋषिके शब्दोंमें सुनिए– "(प्रथ विस्तारे) इस धातुसे 'पृथिवी' शब्द सिद्ध होता है। 'यः प्रथते सर्व जगद्विस्तृणाति स पृथिवी।' जो सब विस्तृत जगत्का विस्तार करनेवाला है इसलिए उस परमेश्वरका नाम पृथिवी है।"

कहिए पृथिवी परमेश्वर सिद्ध हुई वा नहीं? यजुर्वेद १३।१८ 'भूमिरसि' की व्याख्या देखिए– "**भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः**" जिसमें सब भूत प्राणी होते हैं, इसलिए ईश्वरका नाम भूमि है।"

कहिए स्वयं ऋषिने भूमिको परमेश्वर माना है वा नहीं? यही नहीं ऋषिने खं = आकाश, मंगल, बुध, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतुतकको उपासनीय परमेश्वर सिद्ध किया है! यह अद्वैतवादियों, अथवा सूर्यको सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण माननेवालोंका समर्थन नहीं तो और क्या है? सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास १ से त्रैतवाद सिद्ध हो ही नहीं सकता! अंधविश्वासी भले ही मानते रहे।

शंका ३ – आप स्कम्भको दृष्टिगोचर साकार सूर्य समझते हैं, और ऋषि दयानन्द स्कम्भको कभी न दीखनेवाला निराकार परमात्मा।

समाधान – नहीं भाई! ऋषि दयानंद भी ईश्वरको प्रत्यक्ष मानते हैं। स० प्र० समु० ७ में आपने लिखा है—

प्रश्न – आप ईश्वर ईश्वर कहते हो परंतु उसकी सिद्ध किस प्रकार करते हो?

उत्तर – सब प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे।

प्रश्न – ईश्वरमें प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी घट नहीं सकते?

उत्तर – १ इन्द्रियार्थ० ॥ न्या० १।४ ॥

यह गौतम महर्षिकृत न्याय दर्शनका सूत्र है। जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मनका, शब्द स्पर्श रूप रस गंध सुख दुःख सत्यासत्य विषयोंके साथ संबंध होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परंतु वह निर्भ्रम हो।" [स० प्र० समु० ७]

ऋषि दयानंदकी न्यायदर्शनके आधारपर दी हुई यह युक्ति पुनः सिद्ध कर रही है कि जो ईश्वर प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध किया जा सकता है वह साकार सूर्य ही है निराकार परमात्मा नहीं! प्रत्यक्ष सूर्यको परमात्मा सिद्ध करना ही निर्भ्रम ज्ञान है। निराकार अदृष्ट पदार्थको परमात्मा सिद्ध करना कदापि निर्भ्रम ज्ञान नहीं कहला सकता।

२. आदित्य, इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सोमादि अनेकों सूर्यके नाम वेदोंमें 'राजा' = 'प्रकाशक' कहलाते हैं। राजा चराचर प्रजाओंके साथ रहनेवाला तथा उनका प्रकाशक होना चाहिए – जो सूर्य ही है। प्रजासे मुंह छुपाते रहना राजाका काम नहीं। अतः कोई निराकार अदृश्यमान् पदार्थ 'राजा' नहीं कहला सकता।

समुल्लास १ में ऋषि लिखते हैं "**यो धर्मे राजते स धर्मराजः**" आरंभमें ही लिखते हैं "**क्या परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे कोई उत्तम भी है?**" इससे फिर वही बात सिद्ध हुई कि ऋषि दयानंद प्रत्यक्ष तथा प्रसिद्ध परमात्माको मानते थे, जो साकार सूर्य ही हो सकता है, निराकार कदापि नहीं।

शंका ४ – ऋषि ने तो परमेश्वरको सर्वत्र निराकार ही माना है; साकार कहीं नहीं! सूर्यको तो आपने कहीं भी परमेश्वर नहीं माना है।

समाधान – १ ऋषिने ईश्वरके सर्वोत्तम नाम 'ओ३म्' की व्याख्या स० १ में की ही उससे ॐ साकार सूर्य सिद्ध होता है– देखो **वैदिक धर्म** जून १९५१ का अंक। यहां ऋषिने ईश्वरको सूर्यका एक अंश ही माना है!

२ ईश्वरके जो १०० नाम बताए हैं, वे लगभग सबके सब साकार पदार्थोंके नाम हैं।

३ इसी समुल्लास १ में वेदके प्रमाणसे सूर्यको ऋषि दयानन्दने परमेश्वर माना है, यथा– "**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** ॥ ऋ० १।११५।१ ॥ य० ७।४२ ॥ जो जगत नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते फिरते हैं, 'तस्थुषः' अप्राणी अर्थात् स्थावर जड पृथिवी आदि हैं, उन सबके आत्मा होने और स्वप्रकाशरूप सबके प्रकाश करनेसे परमेश्वरका नाम सूर्य है।

(अत सातत्यगमने) इस धातुसे 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता है। '**योऽतति व्याप्नोति स आत्मा**' जो सब जीवादि जगत्में निरन्तर व्यापक हो रहा है।"

निराकारवादियोंको ऋषि दयानंद वेदोपदेश सुना रहे हैं कि जड-चेतन सृष्टीका जो अन्तरात्मा है वह साकार

सूर्य है, निराकार परमात्मा नहीं। सूर्य ही 'आत्मा' कहला सकता है क्योंकि वह 'सतत गमन करनेवाला' वा निरन्तर चलनेवाला है! निराकार परमात्माका एक स्थान छोडकर दूसरे स्थानपर जाना आर्यसमाजी स्वयं नहीं मानते। यही साकार सूर्य सृष्टीमें व्यापक हो रहा है- निराकार परमात्मा नहीं! ऋषि बता रहे हैं कि यह साकार सूर्य 'स्वप्रकाश-स्वरूप,' अर्थात् एक तो अपने प्रकाशसे युक्त है और दूसरा अपने रूपसे युक्त है- अर्थात् इसने किसी निराकार आदि कहलानेवालेसे न प्रकाश प्राप्त किया है और न रूप-अर्थात् यह वा० य० ४०।८ में वर्णित स्वयम्भू है! स्वयम्भू = स्वसामर्थ्यसे उत्पन्न तथा स्वसत्तासे विद्यमान = Selfborn and Selfesiting.

यह मंत्र चारों वेदोंमें कई बार आया है, और सर्वत्र मंत्रका देवता भी सूर्य ही होनेसे 'निराकार परमात्मा' पर घट ही नहीं सकता। फिर भी लाखों मनुष्य 'निराकार परमात्मा' का अस्तित्व मानते हैं। ये या तो निरक्षर भट्टाचार्य = वेदका काला अक्षर भैंस बराबर जाननेवाले हैं, पेटके बंदे = उपदेशक हैं, या सुनी = सुनी सुनाई बातोंपर बहके हुए। लेखक स्वयं १९१३ से १९४० तक इसी 'निराकार' के भ्रममें रह चुका है। आर्य समाजके नियम २ में तथा समुल्लास ७ में निराकारको सर्वव्यापक माना गया है, जो वेद और ऋषिके उपरोक्त लेखके सर्वथा विरुद्ध है। फिर भी निराकार परमात्माका अस्तित्व माननेवाले मानते ही हैं- ठीक उसी प्रकार जैसे बिना देखे भूत मानते हैं।

शंका ५ - सूर्यकी ही ३३ शक्तियां वा शाखाएं स्कम्भ के ३३ देव हैं इसको पुनः स्पष्ट करके समझाइए।

समाधान - सूर्यको वेदके अनुसार सृष्टीका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण माननेसे सब कुछ स्पष्ट दीखने लगता है, यथा—

८ वसु सूर्य हैं कारण उससे उत्पन्न हुए हैं।

१२ आदित्य तो स्वयमेव सूर्य ही हैं, कारण ये सूर्यसे वा चन्द्रमासे उत्पन्न १२ मास हैं, और आदित्य सूर्यका ही नाम है। चंद्रमा सूर्यसे उत्पन्न वसु है ही।

१० रुद्र १० प्राणोंके नाम हैं, शरीरमें रहनेवाले १० वायु हैं, जो प्राणदाता सूर्यसे उत्पन्न हुए हैं, यथा—
१ **प्राणाद्वायुरजायत** ॥ ऋ० १०।९०।१३ ॥- उस सूर्य पुरुषके प्राणसे वायु उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥
२ **श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च** ॥ वा० य० ३१।१२॥ उस सूर्य पुरुषके कानसे वायु और प्राण उत्पन्न हुए ॥१२॥

१ यह ११ वां रुद्र जीवात्माका नाम है, जो सृष्टीकालमें सूर्यसे उत्पन्न होता है और प्रलयकालमें सूर्यमें समाया रहता है, यथा—

पृथिवी असि ॥ वा० य० १।२ ॥

हे सूर्य तू पृथिवी है ॥ २ ॥ ऋषि दयानंद 'पृथिवी' तथा 'भूमि' को परमेश्वर मानते हैं [शंका २ उपरोक्त], अतः अथर्ववेद १२।१ की देवता 'भूमि' = सूर्य भी है। अब मंत्रार्थ देखिए — **त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः** ॥ अ० १२।१।१५ अर्थ- हे भूमि = सूर्य! (मर्त्याः) मरणधर्मा जीव (त्वत् जाताः) तुझसे उत्पन्न होकर (त्वयि चरन्ति) तुझ ही में चले जाते, विलीन होते हैं ॥ १५ ॥

१ इन्द्र (अशनि वा विद्युत) ऋ० १।१६४।४६ के अनुसार इन्द्र सूर्यका नाम है।

१ प्रजापति (यज्ञ) वा० य० ३२।३ के अनुसार सूर्य ही प्रजापति है।

यज्ञ भी सूर्यका नाम है।

योग ३३ देवता = १ सूर्य!

यहां खण्ड १ में ३३ देवता विचार समाप्त हुआ। इस विचारसे साकार सूर्य ही परमेश्वर और सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण पुनः पुनः सिद्ध हुआ। इस सिद्धिकी प्राप्तिमें आर्यसमाजके विद्वानोंने अपूर्व सहायता दी है, अतः इन सबका धन्यवाद। खण्ड २ में देव पदकी व्युत्पत्तियों तथा कोशकारोंके अर्थ दिखाते हुए पुनः सूर्यको ही परमेश्वर सिद्ध करनेकी आशा है— इत्योम्।

('स्वाध्याय मण्डल' द्वारा संचालित)

संस्कृत साहित्यकी परीक्षाओंका

पा ठ्य क्र म

संस्कृत साहित्यके विशेष अध्ययनके लिये हमने इन परीक्षाओंका पाठ्यक्रम उच्च श्रेणियोंके समकक्ष रखा है। संस्कृत भाषाकी 'विशारद' उत्तीर्ण होनेके पश्चात् छात्र इन परीक्षाओंमें सम्मिलित हो सकते हैं।

नियम

संस्कृत भाषा विशारद परीक्षाके पश्चात् निम्नलिखित तीन परीक्षायें संस्कृत साहित्यके विशेष ज्ञानके लिये प्रचलित की गई हैं।

परीक्षा नाम १ - साहित्य प्रवीण। २ - साहित्य रत्न।
३ - साहित्याचार्य।

क्रम- संस्कृत भाषा 'विशारद' अथवा उसके समकक्ष किसी परीक्षामें उत्तीर्ण हो जानेके एक वर्ष पश्चात् 'साहित्य प्रवीण' परीक्षामें बैठा जा सकता है। 'साहित्य प्रवीण' उत्तीर्ण होनेपर दो वर्षके पश्चात् 'साहित्यरत्न' में सम्मिलित होनेका अधिकार प्राप्त होगा।

'साहित्यरत्न' उत्तीर्ण हो जानेके दो वर्ष पश्चात् 'साहित्याचार्य' में सम्मिलित होनेका अधिकार प्राप्त होगा।

समय- उपर्युक्त तीनों परीक्षाओंका समय समाचार पत्रों द्वारा तथा संस्कृतभाषा प्रचार केन्द्रों द्वारा कमसे कम तीन मास पूर्व घोषित किया जावेगा।

परीक्षा स्थान-संस्कृतभाषा प्रचार परीक्षाओंके केन्द्रोंमें ही उपर्युक्त परीक्षायें होंगी। किन्तु इनके केन्द्र अत्यन्त सीमित रहेंगे।

प्राप्ताङ्क एवं शुल्क

१- साहित्य प्रवीण	५-०-० रु.	४०० पूर्णांक
२- साहित्यरत्न	६-०-० रु.	५०० पूर्णांक
३- साहित्याचार्य	७-०-० रु.	६०० पूर्णांक

(प्रत्येक प्रश्नपत्रके लिये १०० पूर्णांक एवं तीन घंटेका समय नियत है)

माध्यम - इन तीनों परीक्षाओंके प्रश्नपत्र संस्कृतमें ही होंगे किन्तु उत्तरके लिये संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती अथवा अंग्रेजी भाषा भी स्वीकृत की जायेगी।
निबन्धोंकी भाषा केवल संस्कृत रहेगी।

ऐच्छिक विषय- वेद, धर्म, व्याकरण एवं दर्शन विषयोंके विशेष अध्ययनकी सुविधाके लिये इन्हें ऐच्छिक विषयोंके रूपमें पाठ्यक्रमके अन्तर्गत निर्धारित किया गया है।

साहित्य प्रवीणके चतुर्थ, साहित्यरत्नके पंचम तथा साहित्याचार्यके षष्ठ प्रश्नपत्रके स्थानपर उपर्युक्त पांच ऐच्छिक विषयोंमेंसे किसी एकको लिया जा सकता है।

प्रत्येक ऐच्छिक विषयके पूर्णाङ्क १०० रहेंगे तथा समय तीन घण्टे।

इन तीनों परीक्षाओंके पद्यो पत्रमें ऐच्छिक विषयोंका निर्देश रहेगा।

पाठ्यक्रम

१- साहित्य प्रवीण

प्रश्नपत्र चार		पूर्णाङ्क १००
प्रश्नपत्र १- (पद्य) रघुवंश	१—५ सर्ग	४०
कुमार संभव	१—७ सर्ग	४०
छन्दोमंजरी		२०
प्रश्नपत्र २ - (व्याकरण एवं निबंधरचना)		
लघुसिद्धान्त कौमुदी (संपूर्ण)		६०
निबन्ध (प्रस्ताव तरंगिणी)		४०
प्रश्नपत्र ३ - (नाटक-उपन्यास) स्वप्नवासवदत्तम्		३०
दशकुमार चरित (पूर्व पीठिका)		३०
शिवराज विजय (२ निश्वास)		४०
प्रश्नपत्र ४- सामान्य ज्ञान (संस्कृत)		२०
(राष्ट्रभाषा) पथिक, रक्षाबन्धन, इक्कीस कहानियाँ		५०

(मराठी) यशोधन, बाईकर भटजी, सात पाहुण्या. ३०

अथवा

(गुजराती) मामेरुं-प्रेमानन्द कृत
आपना भारा-उमाशंकर जोषी
द्विरेफनी वातो - भा. १ ला रामनारायण वि. पाठक

२-- साहित्य रत्न

प्रश्नपत्र १- (पद्य) किरातार्जुनीयम् १ --२ सर्ग ४०
शिशुपालवध १--६ सर्ग ४०
वृत्तरत्नाकर २०

प्रश्नपत्र २- (व्याकरण-निबंध रचना)
सिद्धान्त कौमुदी (कारक-समास) ६०
निबन्ध ४०

प्रश्नपत्र ३- (नाटक-उपन्यास) अभिज्ञान शाकुन्तल ३०
विश्रुत चरितम् ३०
कुमुदिनीचन्द्रः (१--७ कला) ४०

प्रश्नपत्र ४- (विशेष कविका अध्ययन एवं लक्षण शास्त्र)
भारवी या कालिदास (मिराशीकृत) ४०
साहित्यदर्पण (दोषालंकार परिच्छेद) ६०

प्रश्नपत्र ५- सामान्य ज्ञान (संस्कृत) २०
(राष्ट्रभाषा) जयद्रथवध, शाहजहाँ, हिन्दीकी श्रेष्ठ कहानियाँ, ५०
(मराठी) आंबराई, मुसाफरी, वंदेमातरम् ३०

अथवा

(गुजराती) विश्वशांति- उमाशंकर जोषी
ब्रह्मचर्याश्रम-कन्हैयालाल मुन्शी
गाता आसोपालव-स्नेह रश्मी

३-- साहित्याचार्य

प्रश्नपत्र १- (पद्य) नैषधीय चरितम् (सर्ग १-२-३) ७५
हर्ष चरितम् २५

प्रश्नपत्र २-- (व्याकरण निबन्धरचना)
सिद्धान्त कौमुदी (शैषिकान्त) ६०
निबन्ध ४०

प्रश्नपत्र ३-- (नाटक-उपन्यास) उत्तम रामचरित ३०
मुद्राराक्षस ३०
कुमुदिनी चन्द्रः (८-१६ कला) ४०

प्रश्नपत्र ४-- (कविका विशेष अध्ययन-उपन्यास)
कादम्बरी (जाबाल्याश्रमपर्यन्तम्) ६०
बाण या भास (चरित्र)

प्रश्नपत्र ५ -- (वैदिक सूक्त व वैदिक व्याकरण)
१ पुरुष, प्राण, मातृभूमि, ब्रह्मचर्य केन सूक्त ६०
निरुक्त (प्रथम काण्ड) ४०

प्रश्नपत्र ६- संस्कृत साहित्यका इतिहास २०
(राष्ट्रभाषा) प्रिय प्रवास, चित्रलेखा,
हिन्दी निबन्ध माला ५०
(मराठी) वाग्वैजयंति, रागिणी, जीवन प्रकाश ३०

अथवा

(गुजराती) ज्योतिरेखा-सुन्दरजी गो. बेटाई
उषा-नानालालकवि साबरमती-संकलन

ऐच्छिक विषय

१-- साहित्य प्रवीण

१ दर्शन सांख्यतत्त्व कौमुदी, पातञ्जल योगसूत्र (भोजवृत्ती सह)
२ व्याकरण-काशिका, परमलघुमंजूषा, पाणिनीय शिक्षा।
३ धर्म-मनुस्मृति २ और ७ अध्याय। ईश और छान्दोग्य उपनिषद्
४ वेद-यजुर्वेद १ म. अध्याय। वैदिक स्वराज्यकी महिमा।

२-- साहित्य रत्न

१ दर्शन- सांख्य कारिका। सर्व दर्शन संग्रह।
२ व्याकरण-परिभाषेन्दु शेखर। वैयाकरण भूषणसार।
३ धर्म-केन एवं बृहदारण्यक उपनिषद्।
५ वेद-यजुर्वेद २२ वां अध्याय। इन्द्र शक्तिका विकास

३-- साहित्याचार्य

१ दर्शन-सांख्य प्रवचन भाष्य। पातञ्जल योगसूत्र (वाचस्पति वृत्ति सहित व्यास भाष्य व नागेशवृत्ति सहित)
२ व्याकरण-शब्द कौस्तुभ (नवाह्निक) लघुमञ्जूषा।
३ धर्म-याज्ञवल्क्यस्मृति आचार व प्रायश्चित्त। आपस्तंब धर्मसूत्र।
४ वेद-यजुर्वेद ३६ वां अध्याय। उषादेवताके सूक्त।

उषाका वर्णन

वेदके मंत्रोंमें उषा देवताका वर्णन विशेष महत्त्वका स्थान रखता है। करीब करीब ९२ ऋषियोंके मंत्रोंमें उषाका वर्णन आया है और ३२ देवताओंके मंत्रोंमें उषाका निर्देश न्यूनाधिक प्रमाणमें आया है। जो सूक्त उषा देवताके स्वतन्त्र हैं वे भी यहां प्रथम दिये हैं।

यहां कुल मंत्र उषा देवताके साथ संबंध रखनेवाले ४४५ हैं, इसमें २०२ मंत्र उषाका साक्षात् वर्णन करनेवाले हैं, इनमें भी १७९ 'उषा' देवताके हैं, ११ मंत्र 'उषासा-नक्ता' के हैं और २५५ मंत्र अग्नि, इन्द्र आदि अन्य देवताओंके सूक्तोंमें उषाका निर्देश आया है, ऐसे हैं। वास्तवमें ये २५५ मंत्र उषा देवताके नहीं हैं। अन्यान्य देवताओंके हैं, पर इनमें उषाके सहचारी देवगण कहे हैं और इनमेंसे कई मंत्रोंमें उषाका महत्त्वपूर्ण वर्णन भी है। इस कारण ये मंत्र यहां संग्रहित किये हैं।

वेदके देवतावाचक नाम, तथा विशेषण सार्थ होते हैं। इसलिये जिन नामों, विशेषणों और गुणदर्शक पदोंसे जिसका निर्देश होता है, उसका स्वरूप उन नामों, पदों और विशेषणोंसे प्रकट होता है। इसलिये प्रथम हम इन नामों, विशेषणों और पदोंका मनन करेंगे और उनसे प्रकट होनेवाला उषाका स्वरूप जाननेका यत्न करेंगे। देखिये इन नामोंसे उषाका कौनसा स्वरूप प्रकट होता है- यहां नामोंके साथ जो अंक दिये हैं, वे यहां के क्रमांक हैं, उस क्रमांकमें वह मंत्र मिलेगा —

उषा कन्या है

उषाका कन्या रूप निम्नलिखित शब्दोंद्वारा प्रकट हुआ है- **कन्या** (६८); **दिवः दुहिता** (३) द्युलोककी पुत्री, द्यु पिता है और पृथिवी माता है। इस तरह द्यावा-पृथिवीकी पुत्री यह उषा है। द्युपिता भी वर्णनके योग्य है और मातृभूमि भी प्रशंसाके योग्य है। ऐसे श्रेष्ठ मातापिताओंकी यह कन्या है। इसलिये इसको '**दिवि-जा**' (१३८) स्वर्गकन्या कहते हैं। यह स्वर्गीय कन्या है। जो श्रेष्ठ होता है उसको 'स्वर्गीय' कहते हैं। उषा ऐसी श्रेष्ठ कन्या है इसलिये इसको स्वर्गीय कन्या कहा है। यह श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुई है इसलिये इसको '**सुजाता**' (६१) कहते हैं। यह श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुई है। इस कारण इसको '**अर्या**' (५९), **श्रेष्ठतमा** ' ५०), **अपूर्व्या** (१९९), कहते हैं। यह उषा श्रेष्ठ है, सबसे श्रेष्ठ है, यह अपूर्व है, ऐसी दूसरी कोई पुत्री नहीं है, इसलिये इसको अपूर्व कहा है। यह निष्पाप है इस कारण इसको '**अनवद्या**' (६६) कहा है। यह पवित्र, यज्ञिय और पापरहित है, इसी कारण इसकी प्रशंसा होती है।

उत्तम बहिन

उषा उत्तम बहिन है '**भगस्य स्वसा**' (६३) भगकी सहोदरी और '**वरुणस्य जामि**' (६३) वरुणकी बहिन है। उषा '**रात्रीकी बहिन**' है ऐसा वर्णन ३१९ वे मंत्रमें है। भाग्यका देव भग है, उसकी यह उषा बहिन है। वरुण देव सबका वरणीय देव है, सबको वह प्रिय है। जल सबका जीवन है, उसका वह अधिपति है, इसकी यह बहिन है। इस तरह उषाके ये भाई विश्वमें बडे स्थानोंपर हैं। ऐसे विशाल सामर्थ्यवान देवोंकी यह उषा बहिन है। कन्याको देखनेके समय जैसा उसके पिता और माता का विचार करना होता है, उसी तरह उसके भाइयोंका भी विचार करना चाहिये। यह बात यहां बताई है।

तरुणी उषा

'**नीची**' (१८७) यह उषा नीचे मुख करके चलती है। स्त्रीको उद्धत पुरुष जैसा ऊपरमुख करके चलना योग्य नहीं है। नम्रभाव उसके चाल चलनमें टपकना चाहिये। यह स्त्रियोंकी मर्यादा है। '**युवतिः**' (४५) यह उषा अब तरुणी होगयी है, उपवर अर्थात् विवाहके योग्य हुई है। यह '**जाया**' (७८), **जनी** (१०३), **योषा** (८); **योषणा** (१८६), **पत्नी** (८८) यह उषा अब पत्नी हुई है, संतान उत्पन्न करने योग्य बडा होगई। सुसंतान इसमें अब उत्पन्न हो सकेंगे। यह पतिके घरका पालन कर सकेगी। ये सब लक्षण तरुणी स्त्रीके हैं। ऐसी उत्तम तरुणी किसके साथ ब्याही जाय, यह प्रश्न पिताके सामने उत्पन्न होता

है। इसका उत्तर '**अमृतस्य पत्नी**' (२५८) युद्धमें अमर रहनेवाले वीरकी यह पत्नी है। वीर युद्ध करे और शत्रुका पूर्ण पराभव भी करे परंतु युद्धमें न मरे, ऐसे वीरकी पत्नी हो। अत्यंत शूरके लिये ही यह संभव हो सकता है। ऐसी उत्तम कन्याके लिये ऐसा उत्तम वीर ही वर ढूंढना चाहिये। उषाका पिता उषाके लिये उत्तम वर देखता है और यह उषा अब '**अर्य-पत्नी**' (३००) आर्यकी पत्नी बनती है। अब यह श्रेष्ठ वीरकी सुयोग्य पत्नी होती है, अर्थात् अब यह उषा '**आजानी**' (३४१) उत्तम संतान उत्पन्न करने वाली माता बनने योग्य प्रौढ हुई है। अब यह '**माता**' (२५५) हो चुकी है और इसको सात पुत्र भी हुए है। '**मातुः उषसः सप्त पुत्राः**' (२५५) उषा माताके सात पुत्र भी हुए हैं। यहां तक कन्याकी तरुणी, तरुणीकी विवाहिता, विवाहिता होके पुत्रवती माता यह उषा बनी है। उषाके वर्णन करनेवाले मंत्रोंमें पुत्रीकी इतनी उच्चसे उच्च अवस्थाओंका वर्णन है।

जो भी वेदमंत्रका वर्णन होगा, वह मानवी जीवनमें ढालनेके लिये ही है। इसलिये उषाके वर्णनमें मनुष्य की कन्या कैसी हो, तरुणी कैसी रहे, पत्नी होकर क्या कार्य करे, माता बननेपर क्या करे ये सब उपदेश मनुष्योंको मिल सकते हैं। इनका वर्णन विस्तारसे आगे आजायगा, यहां केवल नामोंसे इन विषयोंकी सूचना ही यहां हुई है।

उषाके मंत्रोंमें आया उषाका वर्णन मानवी जीवनमें ढालनेके लिये है, इसकी सूचना देनेवाले उषाके विशेषण '**मानुषी देवी**' (१३९) और '**मर्त्यत्रा**' (६१) ये हैं। अर्थात् यह उषा देवताका वर्णन यह उषा मनुष्योंकी पुत्री है ऐसा बतानेके लिये है, अर्थात् उषाका वर्णन देख कर मनुष्य जानें कि अपनी पुत्री ऐसी होनी चाहिये।

प्रशंसनीय उषा

यह उषा प्रशंसनीय गुणोंसे युक्त है, ऐसा बतानेवाले उसके ये विशेषण हैं— '**ऋषिस्तुता**' (१४२) ऋषियों द्वारा प्रशंसित; '**पुरुस्तुता**' (१२२ , अनेकों द्वारा प्रशंसित, '**पुरुहूता**' (१८६) बहुतों द्वारा प्रशंसायोग्य, '**स्तोभ्या**' (८४) वर्णन करने योग्य, '**विश्व-वारा**' (५७) सबको वरणीय, सबके लिये आदरणीय '**विश्व-मिन्वा**'(१२१), '**सुहवा**' (७१), '**कघप्रिया**' (१) ये सब विशेषण उषा प्रशंसाके योग्य है, यह भाव बता रहे हैं। आर्योंकी कन्या ऐसी ही प्रशंसनीय गुणोंवाली होनी चाहिये। '**यज्ञिया**' (१८६) पूजनीय होनी चाहिये। इसको देखकर सब लोग उसकी प्रशंसा करें, ऐसी आर्यकन्या होनी चाहिये। आदरणीय गुण कन्यामें बढने योग्य सुशिक्षा कन्याओंको आर्य घरोंमें मिलनी चाहिये यह बोध यहां मिलता है।

स्त्री वीरा हो

उषा वीर पत्नी होनेके पश्चात् वह '**वीरवती**' (१७१), '**सर्ववीरा**' (५६) वीर पुत्रोंको उत्पन्न करनेवाली भी है। वीरभावोंसे स्वयं युक्त होकर, पुत्रोंमें वीरभाव बढानेवाली स्त्री होनी चाहिये। वह '**यावयत्-द्वेषाः**' (१०६) शत्रुओंको दूर करनेवाली स्त्री हो। शत्रुओंको दूर करके अपने घरका संरक्षण करनेमें समर्थ स्त्री हो। '**इन्द्रतमा**' (१६६), इन्द्र शत्रुको दूर करनेका कार्य करता है, उस कार्यमें यह स्त्री अत्यंत प्रवीण होनी चाहिये। इन्द्रके शत्रुको दूर करनेके कार्यमें स्त्री प्रवीण होनी चाहिये। तथा '**दक्षिणा**' (१२६) सब कर्तव्योंमें दक्ष रहनी चाहिये, दाक्षिण्य युक्त होनी चाहिये। ऐसी स्त्री उषा है। सब आर्यस्त्रियाँ ऐसी ही हों।

कर्ममें कुशल

स्त्री कर्ममें कुशल हो। '**अपस्युः**' (२०९) कर्म उत्तम रीतिसे करनेवाली हो और आलसी न हो। '**सु शिल्पा**' (१८८) उत्तम शिल्प जाननेवाली, कला कौशलके कार्य करने वाली स्त्री हो, वह सदा कुशलतासे प्रत्येक कर्म करती रहे। '**मही माया**' (१४१) बडी कुशलतासे तथा प्रवीणतासे कार्य करनेवाली स्त्री हो। 'माया' शब्दका यहां अर्थ कर्म कौशल है। अर्थात् 'मही माया' का अर्थ बडे कौशल्यपूर्ण कार्य करनेवाली है।

यह उषा '**कृता**' (१८७) कर्म करके कृतकृत्य होनेवाली अर्थात् निपुण है। यह '**चरसे बोधयन्ती**' (३२) लोगोंको कार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये जगाती है। यह सबसे पूर्व स्वयं जागती है और दूसरोंको कार्य करनेके लिये जगाती है। यह स्त्री '**जनानां वयुना अभि पश्यन्ती**' (१४१) लोगोंके कार्य देखती है। कर्मचारियोंके कामोंका निरीक्षण करती है। यह स्त्री '**पञ्च क्षितीः युञ्जाना**' (१४१) पांचों प्रकारके मानवोंको अपने अपने कर्ममें लगाती है, ज्ञानीको ज्ञान प्रसारमें, वीरको शत्रु दूर करनेके कार्यमें, व्यापारीको व्यापारमें, कृषी-

वलको खेतीमें, शिल्पीको-शिल्पकारीमें यह प्रवृत्त करती है और उनके कर्मोंका निरीक्षण करती है।

यशस्विनी उषा

यह उषा '**यशस्वती**' (२०९) उत्तम कर्म करनेके कारण यशस्विनी है, यश प्राप्त करती है। प्रत्येक कर्ममें यश कमाती है, '**उशती**' (१८९) उत्तम कार्य करनेकी इच्छा करती है। अधूरा कार्य कभी नहीं छोडती। सब कार्य यश प्राप्त होनेतक करती है।

यह उषा '**ऋतपा**' (५०) सत्यका पालन करती है, '**ऋतेजाः**' (५०) सत्य पालनके लिये ही इसका जन्म है, '**ऋतावरी**' (९०) सत्यका पालन करके उत्तम व्यवहार करनेवाली तथा '**ऋत-जात-सत्या**' (९०) सरलतासे अर्थात् सहज ही से सत्य व्यवहार करनेमें दक्ष रहनेवाली यह है। इस कारण यह यशस्विनी होती है।

गौ का रक्षण

उषा गौओंका रक्षण करनेवाली है, वह '**गवां माता**' (१०५) गौओंकी माता जैसी हितकारिणी है। गौओंकी देख-भाल अच्छी तरह करती है, माताके समान गौओंका प्रतिपाल करती है। '**घृतं दुहाना**' (१७१) घीको बनाती है, गौओं का दोहन करके उसके दहींसे मक्खन निकाल कर उसको तपाकर घी बनाती है। यह उषा '**घृत-प्रतीका**' (३२२) घीके समान तेजस्विनी है। यह उषा '**गवां नेत्री**' (१५१) गौओंको चलानेवाली है, योग्य मार्गसे गोचर भूमिमें ले जाती है और उनको घास आदि देकर उनका पालन करती है, अतः इस उषाको '**गोमती**' (५) गौओंवाली कहते हैं। उषा गौओंवाली है, क्योंकि उषःकालमें गौवें घरसे बाहर आती है और चरनेके लिये ग्रामके बाहर जाती हैं। यह उषःकालमें ही होता है। इस तरह उषा गौओंवाली है।

पुत्रीका नाम '**दुहिता**' अर्थात् गौओंका दोहन करने-वाली है। और गौका रक्षण करना उनका इस तरह कर्तव्य है। गौको चराना, घास देना, पानी पिलाना, पालन करना, दूध निकालना, घी तैयार करना, आदि सब काम घरमें स्त्री करे यह यहां सूचित किया है।

घोडोंकी पालना

'**अश्वा**' '**अश्वावती**' (५) घोडोंका पालन करने-वाली, '**अश्व-सूनृता**' (११०) घोडोंका उत्तम वर्णन करने-वाली, घोडोंको सिखानेवाली यह उषा है। उषःकालमें घोडों-पर बैठकर लोग बाहर जाते हैं। इस तरह उषा का संबंध घोडोंके साथ रहता है। इसलिये घरकी स्त्री घरके घोडोंकी भी उत्तम देख भाल करे, ऐसा यहां सूचित किया है।

रथपर बैठनेवाली

उषा '**बृहद्रथा**' (१२१) बडे रथपर बैठती है। इसका रथ '**चन्द्ररथा**' (८६) चन्द्रके समान अत्यंत तेजस्वी है, चांदीका रथ है, चांदीके समान तेजस्वी है। '**चन्द्रा**' (९१) चांदीके रथपर, चन्द्रके समान तेजस्वी रथपर बैठनेवाली तथा '**शुभ्र-यामा**' (२५०) शुभ्र अर्थात् श्वेत रंगके रथपर, चांदीके रथपर बैठकर जानेवाली उषा है इस कारण इसको '**शुचि भ्राजा**' (२०९) पवित्र तेजवाली कहा जाता है। क्योंकि यह स्वयं तेजस्विनी है और चांदीके रथपर यह बैठती है, इसलिये इसका तेज अधिक फैलता है। इस तरह स्त्री रथ पर बैठे और रथ चलावे। उषा अपना रथ अपने पास रखती है और उसको चलाती है, रथपर बैठकर बाहर भ्रमण करनेके लिये जाती है। इस प्रकार स्त्री रथपर आरूढ होकर भ्रमण करे।

उषाका दातृत्व

उषा '**दास्वती**' (४) दान देनेवाली है, वह '**सनुत्री**' (६०) सहायता करनेवाली है और '**वनन्वती**' (१७४) दूसरोंकी सहायता करनेके लिये जो अपने पास है उसका अर्पण करनेवाली है। इस तरह स्त्री दान देवे, दीनोंकी सहायता करे।

विदुषी

यह उषा देवी विदुषी है इसलिये इसके ये नाम हैं— '**जानती**' (२४९) सब जाननेवाली, '**प्रजानती**' (७४) विशेष जानने वाली, '**चेकिताना**' (५३) ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशनेवाली, '**चिकित्सन्ती**' (५९) विज्ञानपूर्वक प्रयत्न करनेवाली है, इस कारण वह '**पुरंधीः**' (६८) बहुत बुद्धि-मती है, नगरका धारण करनेमें समर्थ है। अनेक सूक्ष्म बुद्धियोंसे युक्त है। वह इस तरह उत्तम ज्ञानवाली है और वह अपना ज्ञान '**बोधयन्ती**' (३१) दूसरोंको देती है और '**प्रबोध-यन्ती**' (४६) दूसरोंको विशेष ज्ञानसंपन्न करती है। स्वयं ज्ञानसंपन्न होना और दूसरोंको ज्ञानसंपन्न करना चाहिये, यह बोध यहां मिलता है। अपनी तरुणियाँ ऐसी हों।

यह उषा स्वयं ज्ञानवती बनकर दूसरोंको ज्ञान देती है, इस लिये उसको '**रणिवता**' (१८३) प्रशंसा होता है इसकी प्रशंसा होनेके विषयमें इससे पूर्व 'प्रशंसनीय उषा' नामक शीर्षकके नीचे १२२ पृष्ठ पर जो वर्णन किया है वह भी पाठक यहां देखें। इतनी विदुषी होनेके कारण वह '**चोदयित्री**' (१७७) सबको सत्कर्म करनेकी प्रेरणा करती है।

निर्दोष

यह उषा निर्दोष है, इसमें कोई दोष नहीं। यह '**स्नाती**' (१२४) प्रतिदिन स्नान करती है, स्वच्छ होती है। '**मातृ-मृष्टा**' (६९) इसकी माता भी देखती है कि यह प्रतिदिन शुद्ध होती और स्नान करती है वा नहीं। माता स्वयं इस तरुणीको स्नान कराती और इसका सब अंग स्वच्छ तथा मलहीन करती है। इसलिये यह सर्वदा स्वच्छ रहती है। यह तरुणी स्वयं शुद्ध होती है और माता भी उसको अधिक स्वच्छ करती है, इस कारण यह सदा निर्दोष रहती है।

स्नान होनेके पश्चात् यह '**शुक्रवासाः**' (४५); '**शुक्रं वासः बिभ्रती**' (१५४), '**शुभ्रा**' (१२४) '**शुक्रा**' (६७), '**श्वितीची**' (६७) शुद्ध श्वेत वस्त्र पहनती है। यह '**श्वेत्या**' (४०) श्वेत वस्त्र पहनती है, श्वेत ही उत्तरीय पहनती है, '**शुक्रपिशं दधानाः**' (१९०) इसका शुद्ध श्वेत गौर वर्ण बहुत ही सुन्दर दीखता है। जो वस्त्र यह तरुणी पहनती है वे '**सुवासाः**' (७८) उत्तम सुन्दर और स्वच्छ धोये होते हैं। इस तरह यह सजकर बाहर आती है।

इस कारण इसको '**विभातीनां प्रथमा**' (५३) '**विभानां प्रथमा**' (३६४) तेजस्वियोंमें पहिली है ऐसा कहा जाता है। तथा '**शुची**' '**पावका**' (९३) पवित्र, '**व्यनी**' [वि+एनी], (१२३) निष्पाप, '**भद्रा**' (१६, कल्याण करनेवाली, '**सुमंगली**' (५०) उत्तम मंगल भाव युक्त, '**प्रिया**' (१९९) सबको प्रिय, इस स्त्रीमें सौंदर्य और शुचितासे उत्पन्न हुआ प्रेम है '**यजता**' (१४४) पवित्र और पूज्य है। पवित्र है। यह स्वयं शुद्ध रहती है इतना ही नहीं, परंतु यह अपना घर भी पवित्र रखती है। स्वच्छ करती है। झाडू देकर अपना रहनेका स्थान साफ और स्वच्छ करती है इसलिये उसको '**शुक-सद्मा**' (२९३) अपना घर शुद्ध रखनेवाली कहते हैं। इस पदसे सूचित होता है कि स्त्री अपना घर शुद्ध करे और पवित्र रखे। यह उसका कर्तव्य ही है। '**अ-रिप्रा**' (३२४) स्वच्छ, निर्दोष, शुद्ध मलीनता रहित तरुणी होनी चाहिये।

सौन्दर्य

तरुणी सुन्दर होनी चाहिये और उसको अपनी वेषभूषा ऐसी धारण करनी चाहिये, कि जिससे उसका सौंदर्य अधिक दीखे। उषा ऐसी ही है इसलिये उसके वर्णनमें '**दर्शता**' (१४०) सुन्दर, दर्शनीय, '**रूपा**' (१८७) सुरूपवती, सुन्दर रूपवाली; '**रण्व-संदृक्**' (८९) रमणीय दर्शनीय रूपवाली, सुन्दर प्रशंसनीय रूपवाली, '**शुंभमाना**' (३३) शोभायमाना, '**रुपतमा**' (१८१) सुन्दर तेजस्वी रूपवाली, '**सुदृशीक संदृक्**' (१५४) सुन्दर रूपवाली तरुणियोंमें सबसे उत्कृष्ट ऐसी यह उषा है। तरुणी ऐसी होनी चाहिये।

'**देवी**' (६) यह प्रकाशमान है, तेजस्विनी है, '**द्योतना**, (६२) '**दिवित्मती**' (११०) तेजस्विनी है, '**भास्वती**' (३०), '**विभावरी**' (१), '**अर्जुनी**' (२२), '**अरुषी**' (२), **विभाती** (५५) रुशती, (४०), **रोचना** (८९), **अर्किणी** (१८७), **रुचाना** (१००) '**अभिश्रियुक्ता**,' (९८), **सुसंकाशा** (६९), **सुरुक्मा** (१८२), **उच्छन्ती** (७२), **रोचमाना** (१२६), **व्युच्छती** (१२), **विभाती** (५५), **अरुणप्सुः** (२०) सुंदर देहकान्ति जिसकी है। '**दिव्या**' (१८६), '**सुदंससा**' (८८) सुन्दर रूपवाली, सुन्दर रूपवती, आदर्श रूप जिसका है। '**रोहिणी**' (१८७) बढनेवाली, अर्थात् कृश, हीन दीन दुर्बल, रोगी आदि नहीं, परंतु हृष्टपुष्ट आरोग्य संपन्न रहकर बढनेवाली यह है। '**तविषी**' (२०१) बलवती है, निर्बल नहीं है। '**संस्मयमाना**' (६८) स्मित करनेवाली, '**हस्रा**' (७८) हंसनेवाली, हंसनेवाले मुखसे युक्त, हास्यमुख जिसका होता है, ऐसी तरुणी हो।

'**नृतूः**' (२६) नाचनेवाली, अर्थात् नृत्य कर्ममें प्रवीण हो। स्त्रियोंके लिये नृत्य एक उत्तम कला है, उसमें प्रवीणता प्राप्त करनी चाहिये।

दो वेणीवाली

उषा '**द्वि-बर्हा**' (१२३) दो वेणीवाली है। यह अपने

बालोंकी दो वेणियां करती है और प्रायः पीठपर ये वेणियां छोडी जाती हैं। जैसी आजकलकी कुमारिकायें दोनों वेणिया पीठपर खुली छोडती हैं, उस तरह उषा भी दो वेणिया पीठपर छोड देती है। यह एक सौंदर्यका प्रसाधन ही है।

तेजस्वी पुत्रवाली

यह उषा '**रुशद्वत्सा**' (४०) तेजस्वी पुत्रवाली है, जिसके पुत्र हृष्टपुष्ट नीरोग तेजस्वी और सुन्दर होते हैं। उत्तम तरुणीको ऐसे ही पुत्र होने चाहिये।

'**रुशत्पशु**' (२८४) तेजस्वी पशु जिसके पास हैं। गौवें, घोडे आदि पशुओंका पालन वह ऐसा करती है, कि वे अच्छे तेजस्वी बनकर इसके पास रहते हैं। अपने पुत्रों और पशुओंकी पालना ऐसी ही करनी चाहिये।

यह '**स्वर्जनन्ती**' (८८) '**स्वरावहन्ती**' (१२०), तेजस्विताको निर्माण करती है, आचरणमें तेजस्विता लाती है।

उत्तम विचार और भाषणकरनेवाली

'**सुम्नावरी**' (५०) उत्तम मनवाली उत्तम विचार करनेवालोंमें श्रेष्ठ तरुणी हो।

'**सूनृता**' (५०), '**सूनृतावती**' (३७), **सूनृतावरी**, (१०६) **सूनृतां नेत्री**, (४२), **सूनृता ईरयन्ती, सूनरी** (११) उत्तम भाषण करनेवाली, उत्तम प्रेम करनेवाली, प्रीतियुक्त स्वभाववाली, आनंद बढानेवाली, प्रेम बढानेवाला भाषण करनेवाली, आनंद प्रसन्नताका जीवन व्यतीत करनेवाली और सुख बढानेवाली तरुणी हो।

'**अजरा**' (५१) जीर्ण न होनेवाली, जरावस्थामें भी तरुणीके समान दीखनेवाली, '**अमृता**' (५१), '**अमर्त्या**' (१) अपमृत्युकी बाधा जिसको नहीं होती, जीर्ण क्षीण और दुर्बल जो नहीं होती। वृद्ध अवस्थामें भी जो तरुणी जैसी दीखती है। '**नव्यं आयुः दधाना**' (१७०), **वयोवृधा** (१८५) नवीन तारुण्यकी आयु ही धारण करनेवाली। आयुसे वृद्ध होनेपर भी तरुणी जैसी दीखनेवाली। '**पुराणी**' (८५) (पुराणी सत्यपि नवीना) पुरानी अतिवृद्ध होनेपर भी तरुणी जैसी दीखती है।

'**जनानां पथ्या** (१६४) लोगोंको योग्य मार्ग बतानेवाली '**वाजं जयन्ती**' (६०) अन्नको जीत कर प्राप्त करनेवाली, अन्न तैयार करनेमें अत्यंत कुशल अथवा निपुण जो होती है। '**अस्रेधन्ती**' (१२२) जो किसीकी हिंसा नहीं करती, किसीका नाश नहीं करती, ऐसी जो सबका हित करनेवाली होती है।

'**वाजिनी**' (८५), **वाजयन्ती** (२३९), **वाजप्रसूता** (३१), **वाजिनीवती** (८) **वाजपत्नी** (१५५), **क्षुमती** (१५१) अन्नवाली, '**ओदती** (९) **मघुघा** (८९) ये नाम यह अन्न सिद्ध करनेमें कुशल होनेका भाव बताते हैं। उत्तम अन्नको सिद्ध करनेवाली तरुणी होनी चाहिये।

धनवाली तरुणी

स्त्रियोंको धन पास रखनेका अधिकार वेदने दिया है। इसलिये '**रेवती**' (९०) धनवाली, '**मघोनी**' (४३) महान ऐश्वर्यवाली; '**सुभगा**' (१०) भाग्य युक्त, उत्तम ऐश्वर्य युक्त, तथा '**वस्वी**' (१२६), '**वस्व ईशाना**' (४५) धनकी स्वामिनी, जिसके पास धन है ऐसी स्त्री। '**चित्रा**' (४२), '**चित्रा-मघा**' (१३) अनेक प्रकारका विलक्षण धन अपने पास रखनेवाली, '**आभरत्-वसुः**' (११२), '**अन्तिवामा**' (१५६) अपने पास भरपूर धन रखनेवाली '**हिरण्य-वर्णा**' (८६) सुवर्णके वर्णके समान वर्णवाली, सुवर्णके आभूषणोंको धारण करनेके कारण सुवर्णके समान जो दीखती है। इस तरह उषा धनवाली है और ये पद सूचित कर रहे हैं, कि वेदकी संमतिसे स्त्रीको धन अपने पास रखनेका अधिकार है।

'**मही**' (१८६) बडी, '**बृहती**' (६०) विशेष बडी, '**महीयमाना**' (२६७), '**महिमानं आविष्कृण्वाना** (१३८) अपने महत्त्वको प्रकट करनेवाली, विशेष योग्यता जिसमें है ऐसी यह तरुणी है।

अस्तु, इस तरह उषाके नाम और विशेषण उषाका जो स्वरूप बताते हैं वह यह है। यहां इन पदों द्वारा उषा कन्याके रूपमें, तरुणी उपवर होनेकी अवस्थामें, विवाहित होनेपर, पुत्रवती होनेपर, घरकी स्वामिनी होनेपर जिस स्वरूपमें दीखती है, उसका वर्णन इन पदोंसे हुआ है। और उषाके वर्णनके मिषसे आर्यकन्याका आदर्श भी इन पदोंद्वारा प्रकट हुआ है। पाठक इन पदोंका मनन करें और आर्यकन्या कैसी होनी चाहिये, उनको किस तरह शिक्षा देनी चाहिये, यह जानें।

यहां ' यतीव न ' (१४८) संन्यासिनी जैसी तरुणी नहीं बनानी है, ऐसा स्पष्ट शब्दसे निषेध ही किया है। यहां उत्तम ' गृहपत्नी, वीरपत्नी, निष्पाप, नीरोग तरुणी ' बनानी अभीष्ट है। न की सर्वसंगपरित्यागिनी भिक्षुकिनी बनानी है। उत्तम घर, उत्तम पुत्र, उत्तम रथ, उत्तम गौवें और घोडे, उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त होकर, विशाल धनका उत्तम उपयोग करनेवाली उत्तम गृहिणी बनानी है।

वेदका ध्येय ' **यतिनी** ' बनाना नहीं है, प्रत्युत ' **तेजस्विनी गृहिणी** ' बनाना ध्येय है। अब इसके आगे यही वर्णन विस्तरसे देखिये—

उषाका आदर्श

वेदमें कवि उषाका वर्णन करते समय आर्य कन्याओंके सामने कन्याका आदर्श रखता है। आर्य तरुणियोंके सामने आदर्श तरुणीको रखता है, आर्य गृहिणियोंके सामने आदर्श गृहिणी रखता है, तथा आर्य स्त्रीके सामने आदर्श स्त्रीको रखता है। उषाके वर्णनके मिषसे ये आदर्श आर्योंके सामने रखे जाते हैं। वेदमंत्रोंका विचार करके ये आदर्श देखने चाहिये और अपनाने चाहिये, तथा अपने जीवनमें ढालने चाहिये। वेद मंत्रोंके मननका मुख्य विषय यह है। ये आदर्श उषाके मन्त्रोंमें किस तरह हैं, इसी विषयका मनन इस लेखमें अब करना है।

विशाल बुद्धिवाली स्त्री

उषा ' **पुरं-धी** ' है ऐसा वर्णन है। **पुरंधीः उदीरतां, विभातीः उषसः तमसा अपगूळ्हा स्पार्हा वसूनि आविः कृण्वन्ति** ॥ (६४) = उत्तम विशेष बुद्धिवाली उषा ऊपर उदय होकर आवे। तेजस्वी उषाएँ अन्धकारसे ढंके स्पृहणीय धनोंको प्रकट करती हैं। यहां उषाके लिये ' **पुरंधी** ' पदका प्रयोग किया है। विशाल बुद्धिवाली ऐसा इसका अर्थ है। यह अपनी बुद्धिसे नाना प्रकारके धनोंको प्रकट करती है। प्राप्त करा देती है। जो धन अन्य नहीं देख सकते, उनको यह देख सकती है और दूसरोंको भी यह प्रकट करती है, दिखा देती है। यह इसकी बुद्धिमत्ताका कार्य है।

' **पुरं+धी** ' का दूसरा अर्थ ' नगरका धारण करनेवाली ' है। उषा अपनी वीरतासे शत्रुको दूर करती है और नगरका संरक्षण करती है। क्योंकि यह ' **सर्व-वीरा** ' (५६) सब प्रकारके वीरभावसे युक्त है। और इसके विषयमें कहा है कि—

१०६ यावद्द्वेषसं त्वा चिकित्वित् सूनृतावरि। प्रति स्तोमैरभुत्स्महि ॥ ऋ० ४।५२।४

" ज्ञानी विदुषी सत्यभाषण करनेवाली और शत्रुओंको दूर भगानेवाली तुझ उषाकी स्तोत्रोंसे हम प्रशंसा गाते हैं। " यहां उषाके तीन विशेषण आये हैं, वह ज्ञानी है, सत्य सुमधुर तथा प्रेमपूर्ण भाषण करनेवाली है और शत्रुओंको दूर करती है। अर्थात् यह आदर्श स्त्री या आदर्श तरुणीका वर्णन है। आदर्श तरुणी वह है, कि जो ज्ञानवती हो, मधुर भाषण करनेवाली हो और शत्रुओंको दूर भगानेमें तथा अपना संरक्षण करनेमें समर्थ हो। इसी तरह और भी देखिये—

८५ उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि। पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनुव्रतं चरसि विश्ववारे ॥
(ऋ० ३।६१।१)

हे (वाजेन वाजिनी मघोनि उषः) अन्नसे अन्नवाली अथवा बलसे बलशालिनी धनवाली उषा ! (प्रचेताः गृणतः स्तोमं जुषस्व) विशेष विचारपूर्वक स्तुति करनेवालेकी प्रशंसाका श्रवण कर। हे (विश्ववारे देवि) सबके द्वारा आदर होने योग्य देवी ! तू (पुराणी युवतिः) पुरानी होनेपर भी तरुणी जैसी हो, और इस कारण तू (पुरं-धिः) नगरका धारण और रक्षण करती है और (व्रतं अनुचरसि) स्वसंरक्षणके व्रतका पालन करती है।

इस मंत्रमें (वाजेन वाजिनी) बलके कारण बलशालिनी, (प्र-चेताः) विशेष बुद्धिवाली, विशेष चिन्तन करनेकी शक्तिसे युक्त, (पुर-न्धिः) विशेष बुद्धिशालिनी अथवा नगरका धारण करनेकी शक्तिसे युक्त, (मघोनी) धनवाली, अपने पास अपना धन रखनेवाली, ऐसा वर्णन है। इससे तरुणी स्त्री कैसी होनी चाहिये, उसको शिक्षा कैसी मिलनी चाहिये इसका ज्ञान हो सकता है। जो (**विश्व-वारा, विश्वं वृणोति**) सबको घेरती है, अपनी शक्ति या बुद्धिसे जो सबको घेर सकती है, सब पर प्रभाव डाल सकती है। वह पुरानी होनेपर भी तरुणी जैसी है। यहां ' पुराणी ' शब्दका अर्थ भी देखने योग्य है ' पुरा अपि नवीना ' पुरानी होनेपर भी नवीन जैसी तरुणी है। अधिक आयु होनेपरभी तरुणी जैसी है। आयुके साथ जिसका बल या उत्साह क्षीण नहीं होता। ये सब गुण आदर्श तरुणी के हैं।

यह स्वयं ज्ञानवती है और उस ज्ञानसे यह दूसरोंको भी जगाती है, इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

१२ विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन् मनायोः ॥ ऋ० १।९२।९

(विश्वं जीवं) सब प्राणियोंको (चरसे बोधयन्ती) उत्तम चालचलन करनेके लिये बोध करती है, जाग्रत करती है, ज्ञान देती है और (विश्वस्य मनायोः) सब मननशील मनुष्योंको (वाचं अविदन्) वाणीकी स्फूर्ति देती है। बोलनेकी, वर्णन करनेकी प्रेरणा देती है।'

यहां लोगोंको बोध देना और मननशीलोंको वक्तृत्वकी स्फूर्ति देना ये दो गुण वर्णन किये हैं। ज्ञानी स्त्री ये कार्य करे। स्त्री प्रथम स्वयं विदुषी बने, सब उत्तम ज्ञान प्राप्त करे, पश्चात् बोध करके लोगोंको सदाचारी बनावे और उत्तम वक्तृत्व करनेकी स्फूर्ति उत्पन्न करे। काव्य करनेकी स्फूर्ति निर्माण करे। समाजमें स्त्रियाँ सुशिक्षासे सपन्न हों और समाजको उन्नत करने का कार्य करें। यह बोध इस वर्णनसे प्राप्त होता है।

७४ एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्। ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥ ऋ० १।१२४।३

'यह स्वर्गीय कन्या उत्तम मनवाला, तेजस्वी वस्त्र पहन कर सामने आरही है। यह सत्य मार्गको अच्छी तरह जानती है, परंतु कभी अपनी प्रगतिकी दिशामें भूल नहीं करती।'

यह स्वर्गीय कन्या, जैसी सुन्दर तरुणी है, यह (स मना) उत्तम संस्कारसंपन्न ज्ञानपूर्ण मनवाली है। इसीलिये इसको स्वर्गकन्या कहा गया है। (ज्योतिः वसाना) तेजस्वी वस्त्र, रेशमी वस्त्र, स्वच्छ शुद्ध निर्मल धौत वस्त्र पहनती है और ऐसी यह सजकर (पुरस्तात् प्रत्यदर्शि) सामने दीख रही है। यह अपनी ज्ञानसंपन्नताके कारण (ऋतस्य पन्था साधु प्रजानती) सरल कर्तव्यके मार्गको ठीक तरह जानती है। अपने विशाल ज्ञानसे यह जानती है कि किस समय क्या करना चाहिये और क्या नही करना चाहिये। अपने ज्ञानसे यह ठीक तरह जानती है और कदापि (दिशः न मिनाति) अपनी कर्तव्यकी दिशामें भूल नहीं करती। अपनी प्रगतिके मार्गकी दिशामें प्रमाद नहीं करती।

यह ज्ञानवाली है, कर्तव्य उत्तम रीतिसे जानती है, उत्तम वस्त्र पहनती है, सरल मार्गसे जाती है और कभी अपने कर्तव्य की दिशामें भूल नहीं करती। यह सचमुच आदर्श स्त्रीका वर्णन है। आर्य स्त्रीका यही आदर्श है।

समभाव

विदुषी स्त्री पक्षपात नहीं करती। इसका आचरण पक्षपात रहित होता है। इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्र देखने योग्य है—

७७ एवेदेषा पुरुतमा दृशे कं नाजामिं न वृणक्ति जामिम्। अरेपसा तन्वा३ शाशदाना नार्भादीषते न महो विभाती ॥ ऋ० १।१२४।६

(एषा पुरुतमा) वह अत्यंत श्रेष्ठ स्त्री (कं दृशे) सुखका अनुभव करनेके लिये (न अजामिं परिवृणक्ति) न तो जो भाई नहीं है उसको त्यागती है और (न जामिं) न भाईको त्यागती है। इसीतरह (अरेपसा तन्वा शाशदाना विभाती) यह निष्पाप शरीरसे प्रकाशनेवाली उत्तम कान्तिवाली स्त्री (न अर्भात् ईषते) न छोटेसे दूर जाती है और (न महः) नाही बडेसे दूर भागती है। अर्थात् दोनोंसे यथायोग्य बर्ताव करती है। यहां 'अ-रेपसा तन्वा' (निष्पाप शरीर) ये पद स्त्री के विषयमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। जिसका शरीर निष्पाप रहा है ऐसी कन्या या तरुणी होनी चाहिये।

यहां स्त्रीके वर्णन करनेके लिये (पुरुतमा) अत्यंत श्रेष्ठ, विशाल हृदयवाली, (विभाती) विशेष तेजस्वी, दिव्य तेजसे युक्त, और (अ-रेपसा तन्वा शाशदाना) निर्दोष शरीरसे प्रकाशित होनेवाली, नीरोग शरीरके कारण चमकनेवाली, जिससे पाप नहीं हुआ ऐसे शरीरसे युक्त ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें 'अ रेपसा तन्वा शाशदाना' ये पद अत्यंत महत्त्वके हैं। स्त्रीका शरीर निर्दोष रहना चाहिये। 'रेपस्' का अर्थ 'नीचता, पाप, धब्बा, दोष, क्रूरता, रोग' आदि प्रकारका है। ये दोष जहां नहीं हैं वह 'अ-रेपस्' है। स्त्रीका शरीर ऐसा होना चाहिये। पुरुषका भी शरीर निर्दोष होना चाहिये, पर स्त्रीके शरीरमें बालक नौ महिने रहता है, इसलिये राष्ट्रके हितकी दृष्टिसे स्त्रीका शरीर विशेष ही निर्दोष रहना चाहिये। राष्ट्रके बालक हृष्ट पुष्ट और निर्दोष होने चाहिये। इसकी संपन्नताके लिये स्त्रीका शरीर अत्यंत निर्दोष होना चाहिये. यह इस वेद मंत्रकी सूचना विशेष ही मननीय है।

इस मंत्रमें स्त्रीका समभाव वर्णन किया है। छोटे और बडे के साथ और भाई और जो भाई नहीं इनके साथ इसका योग्य

बर्ताव होना चाहिये। छोटे के साथ घृणा नहीं करनी चाहिये, और बडेके साथ डरकर दूर भागना भी नहीं चाहिये। दोनोंकी योग्य सेवा करनी चाहिये। इसी तरह अपने भाई के साथ पक्षपात भी न किया जाय और यह पराया है इसलिये उससे उदास भाव भी न प्रकट किया जाय। इस तरह सबसे सुयोग्य समवृत्तीसे व्यवहार करना चाहिये। घरमें ऐसी सुयोग्य व्यवहार करनेवाली स्त्री हो यह इसका आशय है।

सबका निरीक्षण

जो ऐसी विदुषी स्त्री होगी वह सबका निरीक्षण करेगी ही, अन्यथा उससे सबके साथ उचित व्यवहार होना ही नहीं, इस हेतुसे कहा है-

विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्या।
प्रतीची चक्षुरुर्विया विभाति॥ ३२॥

ऋ. १।९२।९

'यह देवी (विश्वानि भुवना अभिचक्ष्य) सब भुवनोंका निरीक्षण विशेष दृष्टीसे करके प्रकाशती है।' यानी सबका निरीक्षण करनेका कार्य यह करती है। पतिके घरमें तथा उसके घरके बाहर जो पदार्थ हैं, वे कैसे हैं, उनकी अवस्था अच्छी है वा नहीं, आसमन्तात् जो प्राणी तथा मनुष्य रहते हैं, उनमें अनुकूल कितने हैं और प्रतिकूल कितने हैं इसका निरीक्षण यह स्त्री करती है।

कुलस्त्रीको पतिके घरका इस तरह निरीक्षण करना चाहिये। यह कुलवधुका कर्तव्य ही है। कुल स्त्री केवल पतिके घर रहे और पतिका रञ्जन करे ऐसा ही नहीं है। पर उसका कार्य सबका निरीक्षण करना भी है। उषा सबसे पहिले उठती है, बाहर आती है, अपने सब घरका निरीक्षण करती है, घरकी अन्दर बाहरकी सब व्यवस्था देखती है। यह कुलवधूके लिये आदर्श है। उषा उठती है, अपने घरको प्रकाशित करती है। इसका प्रकाश होते ही चोर डाकू, लुटेरे भाग जाते है और इस का घर सुरक्षित होता है। इसी तरह कुलवधू पतिके पूर्व उठे, अपने घरमें प्रकाश करे, घरके अन्दर तथा बाहरकी परिस्थिति का निरीक्षण करे और अपने घरको सुरक्षित करे। यह कुल स्त्रीका कर्तव्य है। अर्थात् जो स्त्री पतिके पश्चात् उठती है, अपने घरके संरक्षणका प्रबंध नहीं कर सकती, वह अपने आवश्यक कर्तव्यसे भ्रष्ट होती है। यहां स्त्रीपर जो दायित्व रखा है वह मनन करने योग्य है।

स्त्रीको सुशिक्षा ऐसी होनी चाहिये। जिससे वह स्त्री इस अपने कर्तव्य कर्म करनेके लिये पूर्णरीतिसे योग्य बने।

निर्भयता

स्त्री निर्भय होनी चाहिये। शारीरिक बलके संवर्धनकी तथा स्वसंरक्षण करनेकी सब विद्या उस स्त्रीको कुमारीपनमें ही हस्तगत होनी चाहिये। तब वह स्त्री अपना तथा अपने परिवारका संरक्षण करनेमें समर्थ होगी। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वीं गव्यूतिम-
भयं कृधी नः। यावय द्वेष आभर वसूनि चोदय
राधो गृणते मघोनि॥ १५६॥ ऋ ७।७७।४

'हे (मघोनी) धनको अपने पास रखनेवाली ! तू (अन्तिवामा) अपने पास पर्याप्त धन रखती है, (अमित्रं दूरे उच्छ) शत्रुको दूर करके प्रकाशित हो, अथवा दूरसे ही शत्रुको पहचान। (नः ऊर्वीं गव्यूतिं अभयं कृधि) हमारे लिये चारों ओर की भूमिको निर्भय कर, (द्वेषः यावय) शत्रुको दूर भगा दे, (वसूनि आभर) धन लाकर घरमें भर दे, (गृणते राधः चोदय) कविको धन अर्पण कर।

इस मंत्रमें अनेक कर्तव्य वर्णन किये हैं, इनमें शत्रुको दूर करना, अपने स्थानको निर्भय करना, शत्रुको दूरसे ही जानना कि वहां शत्रु है, उसको जानकर उसको दूर करके अपना स्थान निर्भय करना और अनेक प्रकारके धन लाकर अपना घर भर देना। यह सब स्त्रीके लिये अर्थात् स्त्रीका वर्णन करते समय कहा है।

सुन्दरताको बढाना

घरमें स्त्री सुन्दर बनकर रहना चाहिये। जैसी उषा सजधज कर विश्वमें आती है। बडी सुंदर दीखती है, तेजस्विनी प्रतीत होती है, वैसी घरमें स्त्री सुन्दर बन कर रहे। इस उद्देश्यसे कहा है–

७९ अङ्क्ते अंक्ते॥ (ऋ. १।१२४।८)

यह उषा स्त्री रंगोंसे सुभूषित होती है। 'अङ्क्ते' का अर्थ तेल लगाना, तेलमें मिश्रित रंग लगाना, सुशोभित करना। 'अञ्ज्' धातुका भी यही अर्थ है। स्त्रियां कुंकुम लगाती हैं, तथा अन्य प्रकारसे अपनी शोभा बढाती हैं। वह भाव इन पदोंसे यहां प्रकट होता है। तेल लगाकर केशोंकी शोभा बढाना,